

UNIVERSAL
LIBRARY

OU₁ 180389

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 82

Accession No. G.H. 1926

Author V 31 F
वर्मा, रामकुमार

Title चरुमिता १९४२

This book should be returned on or before the date
last marked below.

चारुमित्रा

[चार अभिनव मौलिक एकांकी नाटक]

∴

श्री रामकुमार वर्मा,
एम० ए०, पी० एच - डी०
[प्रयाग विश्वविद्यालय]

∴

साधना - सदन

प्रयाग

किंग्सवे, दिल्ली : चेतगंज, काशी

सवा दो रुपये

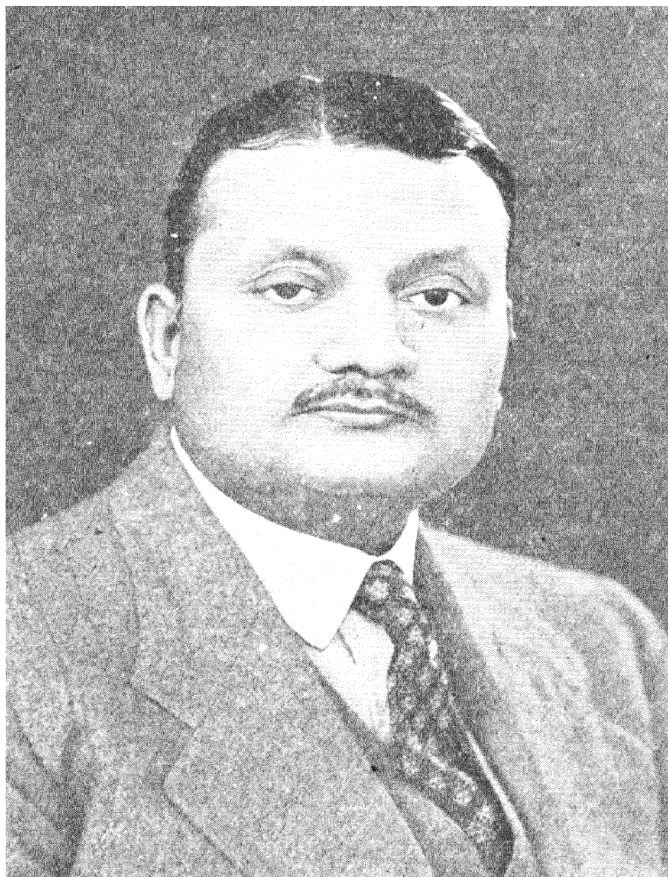
प्रकाशक
साधना-सदन,
६९, लूकरगंज, इलाहाबाद ।

Checked 1963

प्रथम संस्करण		
जून, १९४२	:	१०००
द्वितीय संस्करण		
जून, १९४४	:	१०००

Checked 1969

मुद्रक
श्री० के० शास्त्री,
ज्योतिष प्रकाश प्रेस, बनारस : ४४४८



पंडित अमरनाथ भा

नाटकों की रचना में मेरे

पथ-निर्देशक

पं० आश्विनानाथ झा,

एम. ए., एफ्. आर. एस. एल.,

वाइस-चांसलर, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

को

सादर समर्पित

—रामकमार

स्वागत

‘चारुभिन्ना’ मेरे एकाकी नाटको का तीसरा संग्रह है । ‘पृथ्वीराज की आँखें’ और ‘रेशमी टाई’ की परिस्थितियों से निकलकर मैं आगे चल रहा हूँ, इस गति का अनुभव तो मुझे हो रहा है किंतु दिशा का निर्णय आपके पास है ।

यह संग्रह इतने शीघ्र न निकलता यदि इसमें मेरे छात्रों का सहयोग न होता । यूनिवर्सिटी के प्रत्येक उत्सव पर उनकी ओर से नाटकों की माँग होती है और मुझे नाटक लिखना ही पड़ता है । इस संग्रह के दो नाटक तो उनके द्वारा खेले भी जा चुके हैं । दो नाटक नये हैं । इन दोनों नये नाटकों के लिखाने का श्रेय मेरे बंधु श्री सुमनजी को है जिनके अनुरोध की रक्षा करने में मुझे विशेष सुख मिलता है । विनिमय के सिद्धांत से उन्होंने मेरा अनुरोध मानकर इस पुस्तक की भूमिका भी लिख दी है, जिसके लिए मैं उनके प्रति आभारी हूँ ।

मेरे गुरु डा० धीरेन्द्र वर्मा ने मेरे नाटकों का अभिनय देखकर मुझे इस क्षेत्र में, अपनी स्वीकृति के साथ, बढ़ने की आज्ञा दी है । उनकी शक्ति सदैव मेरे साथ है ।

इन नाटकों को पढ़कर क्या आप अपनी सम्मति मुझे देंगे ?

हिंदी विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय
१०-५-४२

}

रामकुमार वर्मा

भूमिका

रंगमंच के अभाव में हिन्दी नाट्य-साहित्य की धारा प्रायः सूख चली थी, पर इधर एकांकी नाटक के रूप में वह फिर तरंगित होने लगी है। रंगमंच का अभाव अभी दूर नहीं हुआ है, पर हमारे नवीन नाटककार इससे निराश नहीं हैं। उन्हें आशा है कि एकांकी नाटक सामयिक माँग पूरी करते हैं, इसलिए पर्याप्त संख्या हो जाने पर उनके अनुकूल रंगमंच की अवतारणा भी हो जायगी। इधर युनिवर्सिटियों और कालेजों में साल में एकाध बार एकांकी नाटक खेले जाने की प्रथा चल पड़ी है, परंतु अभी तक सर्वसाधारण में उनका क्षेत्र नहीं तैयार हो सका है।

एकांकी नाटकों की परम्परा बहुत प्राचीन है। युरोप और एशिया में किसी न किसी रूप में इनकी स्थिति प्राचीनकाल से चली आ रही है। संस्कृत साहित्य में पात्र और कथानक के आधार पर रूपक के दस भेद किए गये हैं। इनमें से पांच एकांकी होते हैं, यथा व्यायोग (युद्ध के दृश्य, वीर रस-प्रधान), अंक (स्त्रियों का विलाप, करुणरस-प्रधान, उदाहरण, शमिष्ठायति), प्रहसन (हास्य-प्रधान, उदाहरण, कंदर्पकेलि तथा धूर्तचरित्र), त्राण (एक ही पात्र प्रश्न करता है तथा उत्तर देता है, वीर तथा शृंगार रस-प्रधान, उदाहरण, लीलामधुकर), तथा वीथी (शृंगार रस-प्रधान, उदाहरण मालतिका)। मालूम पड़ता है कि प्रारम्भ में इन एकांकी नाटकों का प्रचार था, पर कालान्तर में ५ या इससे

अधिक अंकवाले नाटकों का प्राधान्य हो गया और एकांकी नाटकों की परम्परा लुप्त हो गई। हिन्दी में उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य के प्रभाव में ५ या इससे अधिक अंकवाले नाटक लिखे गये अथवा अनूदित हुए। भारतेन्दु-युग में पारसी रंगमंच के प्रभाव में ३ अंक के नाटक लिखने की प्रथा चल पड़ी। अभी कुछ समय पूर्व तक इसी प्रकार के नाटकों का चलन था, पर पिछले दस-बारह वर्षों से एकांकी नाटकों का बाज़ार गर्म हो रहा है। युरोप में भी एकांकी नाटकों का प्रादुर्भाव, वर्तमान रूप में, विगत महासमर से कुछ समय पूर्व हुआ था। अधिक से अधिक उसकी आयु ४० वर्षों की है। पर इतने ही समय में एकांकी नाटक ने वहाँ अभूतपूर्व उन्नति कर ली है। गति की दृष्टि से वह नाट्य-साहित्य में सबसे आगे है। युरोप के प्रायः प्रत्येक देश के साहित्य में उमने अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है। फ्रांस, रूस, अमेरिका और इंग्लैंड में उसकी विजय-यात्रा अप्रतिहत वेग से चली है। आज, जब जीवन एक भागदौड़ के समान हो गया है, दर्शकों के लिए अधिक समय एक जगह जमकर बैठना कठिन होगया है। फिर एकांकी नाटकों में पात्रों की संख्या अल्प होने तथा साधारण नगरों में भी उनका खेलना संभव होने के कारण भी वे लोकप्रिय हो गए हैं। इनके अभिनय में अधिक समय नहीं लगता; पात्र थोड़े अतः सहज लभ्य हैं और दृश्यों की तैयारी भी उतनी कठिन नहीं।

श्री रामकुमार वर्मा हिन्दी में एकांकी नाटक के जन्मदाताओं में हैं। उनका सबसे पहला एकांकी नाटक 'बादल' है, जो सन १९३० में लिखा गया था। इसे एकांकी नाटक की अपेक्षा अभिनयात्मक गद्य-काव्य कहना अधिक उचित होगा। इसमें कथानक का प्रायः अभाव है, जो एकांकी नाटक की रीढ़ है। इसके बाद के उनके नाटकों में एकांकी नाटकों के सब

गुण क्रमशः विकसित होते गये हैं। उनके छः एकांकी नाटकों का प्रथम संग्रह 'पृथ्वीराज की अँखें' १९३६ में निकला। पाँच बरस बाद, १९४१ में, उनके पाँच एकांकी नाटकों का दूसरा संग्रह 'रेशमी टाई' प्रकाशित हुआ। इस संग्रह के नाटक प्रथम संग्रह की अपेक्षा क्या भाषा, क्या कथानक और क्या रचना-कौशल, सभी दृष्टियों से प्रथम संग्रह के नाटकों की अपेक्षा बहुत उन्नत है। यह 'चारुमित्रा' उनके एकांकी नाटकों का तीसरा संग्रह है। इसमें १९४१-४२ के बीच लिखे गए उनके चार एकांकी नाटक हैं। पाठक देखेंगे कि इन एकांकी नाटकों की रचना में रामकुमारजी की लेखनी पहले से अधिक निखर उठी है और उसने बहुत ऊँची उड़ान भरी है। इस संग्रह में उनका विगत महीने में लिखा गया एक दार्शनिक एकांकी नाटक 'अंधकार' भी सम्मिलित है। मैं इसे हिंदी का ही नहीं, बरं भारतीय साहित्य का एक सर्वश्रेष्ठ एकांकी नाटक मानता हूँ।

एकांकी नाटक की रूपरेखा श्रीरामकुमारजी ने अपने प्रथम संग्रह की भूमिका में बहुत थोड़े से शब्दों में स्पष्ट कर दी है। यह बतलाने के बाद कि एकांकी नाटक में भी नाटक की भाँति आन्तरिक अथवा बाह्य संघर्ष सब से प्रधान वस्तु होती है, उन्होंने अन्य प्रकार के नाटकों में एकांकी नाटक की विशेषता का जिक्र किया है। एकांकी नाटक में एक ही घटना होती है और वह घटना नाटकीय कौशल से कौतूहल का संचय करते हुए चरम सीमा (क्लाइमैक्स) तक पहुँचती है। उसमें कोई अप्रधान प्रसंग नहीं रहता। एक-एक वाक्य और एक-एक शब्द प्राण की तरह आवश्यक रहते हैं। पात्र चार पाँच ही होते हैं, जिनका सम्बन्ध नाटक की घटना में संपूर्णतया जुड़ा रहता है। वहाँ नेचल मनोरंजन के लिए अनावश्यक पात्र की गुञ्जाइश नहीं। प्रत्येक व्यक्ति की रूप-रेखा

पत्थर पर खिंची हुई रेखा की भाँति स्पष्ट और गहरी होती है। विस्तार के अभाव में प्रत्येक घटना कली की तरह खिलकर पुष्प की भाँति विकसित हो उठती है। उसमें लता के समान फैलने की उच्छृङ्खलता नहीं। घटना के प्रत्येक भाग का सम्बन्ध मनुष्य-शरीर के हाथ-पैरों के समान है जिसमें अनुपात-विशेष से रचना होकर सौन्दर्य की सृष्टि होती है। कथावस्तु भी स्पष्ट और कौतूहल से युक्त रहती है और उसमें वर्णनात्मक की अपेक्षा अभिनयात्मक तत्व की प्रधानता रहती है। कथावस्तु का प्रारम्भ, विकास, चरमसीमा और अन्त बिना किसी शैथिल्य के स्वाभाविकता के साथ हो जाता है।

एकांकी नाटक की कथावस्तु कहाँ से ली जानी चाहिए, इस पर रामकुमारजी ने अपने दूसरे संग्रह की भूमिका में विस्तार से लिखा है। उन्होंने इस बात पर विशेष जोर दिया है और सही जोर दिया है कि नाटक को कथावस्तु बाहर से लेने की आवश्यकता नहीं। हमारे जीवन के चारों ओर घटनाओं का अविराम प्रवाह बहता रहता है, जिनमें प्राणों के तत्वां का अत्यन्त रहस्यमय संकेत रहता है। नाटककार को चाहिए वह इन घटनाओं को सजीव दृष्टि से देखकर उनकी व्यंजना में कथावस्तु का निर्माण कर ले। उसका कथा-चातुर्य केवल इस बात में है कि घटनाओं को अधिक से अधिक घनीभूत कर उन्हें कार्यकारण की मनोरंजक शृंखला में कस दे। उसके कला-प्रवाह में प्रत्येक दिन हमारे जीवन से गुँथा हुआ पर हमारे लिए विस्मृत और अदृश्य एक संसार को प्रत्यक्ष करता चलता है। यह असत् नहीं होता; इसमें जीवन धीरे-धीरे अपने अवगुण्डन खोलता है जैसे कली प्रत्येक अँगड़ाई के साथ अपने रहस्यों को लुटाती, अपने को खोलती, मुस्कराती और मनोरम होती दूसरों को भी जीवन के प्रेमल सत्यां से परिचित करती है। जीवन का यह

उद्घाटन कला के प्रकाश में किंचित रंगीन है; उसमें शारदीया की चाँदनी है, ज्येष्ठ की दोपहरी की लू नहीं।

यहाँ पर घटनाओं के चुनाव के सम्बन्ध में रामकुमारजी ने अपने समकालिक प्रगतिशील लेखकों से अपना मत-भेद प्रकट किया है। उनका यह आरोप है कि प्रगतिशील लेखकों की दृष्टि केवल जीवन की कुरूपता की ओर जाती है। हमारा प्रगतिशील लेखक अश्लीलता के किनारे बैठकर साहित्य के नाम पर अपनी वासनाओं का नम्र नृत्य देखना चाहता है; उनके विचार में जब रंगमंच के थोड़े से समय में जीवन का चित्रण करना होता है तब हमें जीवन की ऐसी घटनाएँ चुननी चाहिएँ जो हृदय की सहानुभूति प्राप्त कर सकें या हमारी रागात्मक प्रवृत्ति में कुछ चेतना ला सकें। इस प्रकार वह रंगमंच पर स्वाभाविकता के पोषक होते हुए भी उसपर जीवन के अभ्युदयशील क्षणों अथवा भावों के चित्रण के पक्षपाती हैं।

प्रगतिशील लेखकों से रामकुमारजी को एक दूसरी शिकायत यह है कि वे मनुष्य को भूलकर 'वर्ग' के पीछे पड़ जाते हैं। वे एक प्रतिहिंसा लेकर साहित्य का निर्माण करते हैं, उनका विश्वास है कि साहित्य की कोई रचना यदि प्रतिहिंसा लेकर हुई तो वह सत्य और सौन्दर्य से बहुत दूर होगी। इसलिए हमें वर्ग या समूह के पर्याय व्यक्तियों पर अधिक ध्यान देना चाहिए। उनकी यह धारणा यूरोप के १९ वीं शताब्दी के रोमांटिक लेखकों से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। वे जीवन के बाह्य और सामयिक द्वंद्वों की अपेक्षा मानवहृदय के शाश्वत प्रश्नों की ओर इंगित करना ज्यादा पसंद करते हैं।

रामकुमारजी के सभी एकांकी नाटक मनोवैज्ञानिक हैं, जिनमें अंत-द्वंद्व का चित्रण प्रमुख रहता है। वह अपने नाटकों का आरम्भ किसी

ऐसी स्थिति से करते हैं जिसमें विरोध की तेजस्वी शक्तियाँ निहित रहती हैं। जैसे-जैसे कथानक क्षिप्रगति से अपनी चरम सीमा की ओर बढ़ता है, उनके पात्रों का अंतर्द्वंद्व दिन के प्रकाश की भाँति प्रत्यक्ष होता जाता है, वार्त्तालाप का एक-एक शब्द घटनाओं के गूढ़ आरोह और अवरोहों का ज्ञान कराता चलता है। चरम सीमा पर पहुँचने के बाद ही नाटक का अंत हो जाता है, अंतर्द्वंद्व की समाप्ति के बाद लेखक जैसे एक शब्द भी जोड़ना अनावश्यक समझता है। पाठक अनुभव करता है कि नाटक की सारी घटनाएँ एक बिजली की भाँति उसके हृदयाकाश पर तड़प कर विरलान हो गईं और उस क्षणिक प्रकाश में उसने जो दृश्य देखा है वह अविस्मरणीय है। उनके पात्र अपने अंतर्द्वंद्वों के बीच हमारे हृदय-पटल पर सहानुभूति की एक अमिट रेखा छोड़ जाते हैं। वे सदैव साधारण से उच्च स्तर पर उठने का प्रयत्न करते दिखाई पड़ते हैं और अप्रत्यक्ष रूप में अपने साथ हमारे हृदय को भी ऊँचा उठा लेते हैं। यही पर रामकुमारजी की लेखनी की विजय है। वह भावनाओं का एक गुप्त संसार हमारे सामने मूर्त्त कर देते हैं।

रामकुमारजी एक नाटककार भी हैं और कवि भी। उनके प्रारम्भिक नाटकों में कविता ही नाटक की प्रेरक शक्ति है। किन्तु इस तीसरे संग्रह में कवि रामकुमार का विकास नाटककार रामकुमार में निश्चित रूप से हो गया है। अब रामकुमार के हृदय में बैठा हुआ नाटककार कविता से प्रेरित न होकर जीवन के कौतूहल से प्रेरित होता है, यद्यपि इस कौतूहल में कविता की भावनाएँ पूर्व संस्कार की भाँति जुड़ी रहती हैं। हमें ऐसे अनेक स्थल मिलेंगे जहाँ कार्य-व्यापार की अभिव्यक्ति काव्यमय हो उठी है। उदाहरण के लिए 'अंधकार' में उन्होंने स्वर्ग के कक्ष का जैसा वर्णन दिया है वैसा शायद रङ्गमञ्च पर निर्मित न किया जा सके

किन्तु हमें यह भूल नहीं जाना चाहिए कि स्वर्ग-कक्ष के वातायन का मयूर के फैले हुए पुच्छाकार के ढंग का होना तथा उसपर किरणों के भवल वस्त्र का भैरव राग की भाँति मन्द गति में आन्दोलित होना—हमारी स्वर्ग-संबंधी कल्पना की ही अपेक्षा रखता है। इस प्रकार के प्रतिन्यास से रामकुमारजी ने परिस्थितियों की वास्तविक और तीव्रतम अनुभूतियाँ हमारे सम्मुख साकार उपस्थित कर दी हैं।

‘चारुमित्रा’ सभी दृष्टियों से रामकुमारजी के एकांकी नाटकों का अपूर्व संग्रह है। इसमें संग्रहीत प्रथम नाटक ‘चारुमित्रा’ की पृष्ठभूमि ऐतिहासिक, ‘रजनी की रात’ का सामाजिक और शेष दो ‘उत्सर्ग’ तथा ‘अंधकार’ की दार्शनिक है। जिन्होंने रामकुमारजी के कवि के विकास का अध्ययन किया है उन्हें पता होगा कि उनके कवि के सौकुमार्य के पीछे दार्शनिक का हलका-सा प्रश्न चिह्न भी मौजूद है। दोनों का सुन्दर मिश्रण उनमें है। ‘अंधकार’ को तो एक प्रकार का दार्शनिक रूपक कहा जा सकता है। उन्होंने हास्य, व्यंग, सामाजिक, समस्यामूलक सभी प्रकार के नाटक सफलता-पूर्वक लिखे हैं। पर मेरे विचार से ‘चारुमित्रा’ संग्रह उनकी प्रतिभा का एक निश्चित और प्रामाणिक रूप हमारे सामने रखता है। ‘उत्सर्ग’ और ‘अंधकार’ हिन्दी नाटक में नये प्रयोग हैं और रामकुमारजी की मौलिक प्रतिभा ने इस क्षेत्र में पथ-प्रदर्शन का जो साहस किया है, मैं उसका अभिनन्दन करता हूँ। रामकुमारजी की नाट्यकला में मधुर कल्पनाओं का एक जीवित लोक संचरित है। वे मानवता के पक्ष को उत्तेजित ही नहीं करते, उसके हार्दिक अनुबन्धों की घुन्डी खोल देते हैं। वे हृदय को छूते हैं और रस टपकने लगता है।

एक ओर जब वर्माजी की प्रखर वस्तुवादिता दृश्य-विधान की सफल योजना में सहायक है तो दूसरी ओर उनकी कवि-सिद्ध कोमलता उन्हें भौतिकवाद की नीरसता से बचाए हुए है। उनके प्रखर यथार्थ भी ऐसा रूप लेकर सामने आता है कि हम उसकी ओर आकर्षित होने लगते हैं और वह हमारा आदर्श बन जाता है। इस आदर्श और यथार्थ की संधि में ही वर्माजी की ललित कल्पना बड़ी सहायक हुई है।

अपने साहित्य के इस सफल एकांकी नाटककार का मैं अभिनन्दन करता हूँ।

प्रयाग
७-५-४२

श्रीरामनाथ 'सुमन'

चारुमित्रा

निर्देशिका

१. चारुमित्रा	...	...	१७—५४
२. उत्सर्ग	...	...	५५—९४
३. रजनी की रात	...	...	६५—१३८
४. अंधकार	...	...	१३९—१८३



चारुमित्रा

[नवंबर १९४१]

पात्र

१. सम्राट् अशोक— मगध के सम्राट्
 २. तिष्यरक्षिता— सम्राट् अशोक की रानी
 ३. उपगुप्त— बौद्ध भिक्षु तथा आचार्य
 ४. चारुमित्रा
 ५. म्वयंप्रभा
- } तिष्यरक्षिता की परिचारिकाएँ
६. राजुक— द्वार-रक्षक
 ७. पुष्य— शिविर-रक्षक
- स्त्री, प्रहरी आदि
- स्थान— कलिंग का शिविर
- काल— ई० पू० २६१

अभिनय-भूमिका

इस नाटक का सर्वप्रथम अभिनय इलाहाबाद यूनिवर्सिटी 'विमेन्स' हॉस्टल द्वारा कुमारी चन्द्रावती त्रिपाठी, एम० ए० के निर्देशन में १६ नवंबर १९४१ को हुआ। भूमिका इस प्रकार थी --

१. अशोक— कुमारी कुमुदिनी गुप्ता
२. तिष्यरक्षिता— कुमारी शकुन्तला चतुर्वेदी
३. चारुमित्रा— कुमारी लवंगलता जोशी, बी० ए०
४. उपगुप्त— कुमारी सुरेन्द्रमोहिनी सिनहा
५. राजुक— कुमारी चन्द्रकान्ता कोचर
६. स्वयंप्रभा— कुमारी सत्या मेहता
७. स्त्री— कुमारी कमला सक्सेना, बी० ए०
८. पुण्य— कुमारी राजकुमारी कोहली

[२६१ ई० पू० । सम्राट् अशोक ने अपने शासन के तेरहवें वर्ष में कलिंग पर चढ़ाई कर दी है। उसका कारण यह है कि कलिंग-नरेश सम्राट् अशोक की सत्ता स्वीकार करने में अपना अपमान समझता है। उसने भारत के बाहर भी अपने उपनिवेश स्थापित कर रखे हैं। सम्राट् अशोक को यह सहन नहीं हो सकता। उसने उज्जैन और तक्षशिला में आत्माभिमान की जो दीक्षा प्राप्त की है, वह कलिंग-नरेश के स्वातंत्र्य-प्रेम से समझौता नहीं कर सकती। और जब अशोक ने महाराज चंद्रगुप्त के वंश में जन्म लिया है, तो वह कैसे अपने अधिकार से आँख मूँद सकता है? इस समय उसका राज्य उत्तर में हिन्दूकुश से लेकर दक्षिण में पेनार नदी तक है और पश्चिम में अरब सागर से लेकर बंगाल की खाड़ी तक। सिर्रु कलिंग एक मतवाले नाग की तरह सिर उठाये हुए विषम दृष्टि से अशोक की ओर देखता है। अशोक उस नाग का सिर कुचलना चाहता है। उसने दो वर्ष पहले कलिंग पर चढ़ाई कर दी है।

उसकी सैन्य-शक्ति अपार है। पैदल, घोड़सवार, रथ और हाथियों को उसने कलिंग की सीमा पर अड़ा दिया है। वे आगे बढ़ते चले जा रहे हैं। सम्राट् अशोक स्वयं सैन्य-संचालन करते हैं। उनका शिविर उनकी सेनाओं के साथ है। वे युद्ध के अतिरिक्त किसी भी विषय पर बात नहीं करना चाहते। उनका व्यक्तित्व दृढ़ और तेजस्वी है। ऊँचा ऊँचा और भरे हुए अंग, जिन पर शस्त्र सजे हुए हैं। एक बड़ी ढाल उनकी पीठ पर कसी हुई है और तलवार उनके हाथ का भाग बन गई है। सुंदर मुखाकृति, जिसमें अभिमान और उत्साह का चित्र शक्ति की रेखाओं से खिंचा हुआ है। मस्तक पर शिरछाण और कानों में कुंडल। मोँहें मिली हुई और ओठ कसे हुए। शरीर पर सटा हुआ वस्त्र। चाल प्रमेत कर्तता और दृढ़ता। वे अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से ही कुछ क्षणों

तक विपक्षी को अप्रतिभ बना देते हैं और अपनी विजय को विपक्षी की मृत्यु की रेखाओं से ही गिनते हैं। वे दया के अनुकूल नहीं—क्रूरता के प्रतिकूल नहीं।

उनका शिविर इस समय गोदावरी तट पर है। दूर पानी के बहने और शिलाओं से टकर खाने की आवाज़ है। शिविर के चारों ओर लताओं और गुल्मों का जाल है। समस्त वातावरण में शांति और सौंदर्य है, जो कभी किसी सैनिक की ललकार से या पक्षी के तीखे स्वर से भंग होता है लेकिन फिर शान्त हो जाता है—जैसे एकाकी मार्ग में चलता हुई कोई स्त्री ठोकर खाने से चीख उठे, लेकिन फिर अपने मार्ग पर चलने लगे। शिविर के परदों पर शस्त्र त्रिकोण में या लंबी रेखाओं के रूप में सजे हुए हैं। जगह जगह युद्ध के वस्त्र ढंगे हुए हैं।

इस समय शाम के छः बजे हैं। सम्राट् अशोक युद्ध से नहीं लौटें। उनकी रानी तिष्यरक्षिता शिविर में बैठी है। या तो सम्राट् अशोक ही महारानी तिष्यरक्षिता को अपने साथ युद्ध-कौशल दिखलाने के लिए ले आये हैं, या सम्राट् का वियोग सहन न कर सकने के कारण उनकी कुशल-कामना करते हुए, उन्हें अपने दृष्टि-पथ में रखने के लिए ही तिष्यरक्षिता सम्राट् अशोक के साथ चली आई है। इस समय वह अपने कक्ष में बैठी हुई चित्र बना रही है। शिविर के कक्ष में ऐश्वर्य बरम रहा है। स्तंभों में स्पर्णलताएँ लिपटी हैं, और उनपर रत्नों के फूल हैं, जो प्रकाश में ज्योति-मंडल बन जाते हैं। नीलम और मोतियों की झालरों से कक्ष की दीवारों पर समुद्र की फेनिल लहरों का आभास उत्पन्न किया गया है। पीछे एक महाराव है, जिसके दोनों ओर एक एक हाथी घुटने टेके हुए हैं। चारों ओर दीपस्तंभ हैं, जिनमें दीपक जल रहे हैं और उर्सी स्तंभ में फूल के आकार के पात्र से सुगंधधूम निकल रहा है।

रुक्त के बीच में एक ऊँचा और सजा हुआ आसन है। उससे हटकर काने की ओर चार छोटे-छोटे कुर्सीनुमा आसन हैं। उन आसनों में से एक पर तिष्यरक्षिता बैठी हुई है। उसके सामने चित्रफलक पर एक अधवनी तस्वीर है, जिसमें प्रकृति का सौंदर्य अपनी पूर्णता के लिए तिष्यरक्षिता की तूलिका में से उतर रहा है।

कमरे में निस्तब्धता है। तिष्यरक्षिता चित्र बनाने में लीन है। रुक कर एक ही स्थान पर खड़ी रह कर वह भिन्न भिन्न कोणों से चित्र की ओर देख रही है। दो क्षणों तक चित्र देखने के बाद, वह अपनी तूलिका से दीपस्तंभ के पात्र पर शब्द करती है। एक परिचारिका प्रवेश कर दोनों हाथ जोड़ कर प्रणाम करती है।]

तिष्य०—चारु ! देख यह चित्र कितना अच्छा बन रहा है !

चारु०—बहुत अच्छा महारानी !

तिष्य०—चारु, मैंने चाहा कि इसी जगह की प्रकृति का चित्र बना लें। यहाँ रहते-रहते ये पेड़, ये झरमुट, ये फूल, मुझे बहुत अच्छे लगने लगे हैं। लता लिखती है तो मालूम होता है जैसे उसके सुहाग के दिन आये हैं। और गोदावरी तो ऐसे बहती है, जैसे किसी के लूने पर उसे रोमांच हो आया है। तुझे भी तो यह जगह अच्छी लगती होगी !

चारु०—हाँ महारानी, मुझे बहुत अच्छी लगती है।

तिष्य०—तब तो यह युद्ध समाप्त हो जाने दे। फिर तेरा विवाह इसी जगह रचाऊँगी। इन्हीं पेड़ों के नीचे मंडप होगा और इन्हीं फूलों से तेरी माँग भरूँगी।

चारु०—महारानी, आपका चित्र बहुत अच्छा बना है।

तिष्य०—तू अपने विवाह की बात इस तरह उड़ा देना चाहती है ? इसी चित्र में तेरे विवाह का भी चित्र होगा।

चारु०—महारानी, आप अपनी तूलिका को कष्ट न दें। आपकी कला हम लोगों के लिए बहुत ऊँची है।

तिष्य०—तू बहुत मीठी बातें करती है चारु, लेकिन मेरी कला जीवन के हर एक चित्र को अपना अंग समझती है। यही दृश्य देख—कितना साधारण है पर मुझे तो बहुत प्रिय है।

चारु०—यह तो यहीं पास के कुंज का चित्र है।

तिष्य०—हाँ, चारु, मैं कल वहाँ गई थी महाराज के साथ। वे न जाने कैसे हो गये हैं! सब समय युद्ध की बातें करते हैं। तेरे कलिग देश पर जब से उन्होंने चढ़ाई कर दी है तब से तो उन्होंने सारा राज्य-कार्य महामात्रों पर ही छोड़ रखवा है। आज दो वर्ष पूरे होने जा रहे हैं और कलिग पर उनका क्रोध वंसा ही बना हुआ है।

चारु०—यह मेरे देश का दुर्भाग्य है।

तिष्य०—मैं चाहती हूँ चारु, कि यह लड़ाई शीघ्र ही समाप्त हो जाय। सच मान, यह युद्ध मुझे अच्छा नहीं लगता। हमारे सुख और शांति के जीवन में जहाँ हँसी का फूल खिलना चाहिए वहाँ आह और कराह काँटे की तरह चुभ जाती है।

चारु०—महारानी, लड़ाई में यही आह और कराह तो तलवार का संगीत बनती है।

तिष्य०—अच्छा चारु, यह बता, तू ने कभी लड़ाई लड़ी है ?

चारु०—नहीं, महारानी !

तिष्य०—तू जानती ही नहीं, लड़ाई किसे कहते हैं ? जीवन भी तो एक लड़ाई है। पुरुष की स्त्री से लड़ाई, की स्त्री को पुरुष से लड़ाई। स्त्री-पुरुष की पुरुष-स्त्री से लड़ाई ! तू ने कभी लड़ाई लड़ी ही नहीं ?

चारु०—नहीं, महारानी !

तिष्य०—विवाह होने से पहले इसका अभ्यास अवश्य कर ले ।

चारु०—जी, महारानी !

तिष्य०—और चारु, मैं भी महाराज से लड़ना चाहती हूँ । वे यह युद्ध बंद कर दें । मुझे यह अच्छा नहीं लगता । कितने वीरों का रोज़ खून होता है । आज जिन वीरों से देश की उन्नति होती, वही व्यर्थ मर रहे हैं—जो वीर मिट्टी छूकर सोना बनाते, वही आज मिट्टी हो रहे हैं !

चारु०—सच है, महारानी !

तिष्य०—लेकिन कलिंग के लोग लड़ना भी अच्छी तरह से जानते हैं, नहीं तो मगध की सेना के सामने कान टिक सकता है ? दो वर्षों से तो यह लड़ाई चल रही है ।

चारु०—अभी बहुत वर्षों तक चलेगी, महारानी !

तिष्य०—[आवेश से] क्या क्या चारु, तू महाराज की शक्ति का अपमान करती है ?

चारु०—महारानी, क्षमा कीजिए । इसमें महाराज की शक्ति का अपमान नहीं है । मेरे कलिंग के लोग वीर हैं । वे माता की तरह अपनी भूमि का आदर करते हैं । जब तक एक भी वीर है, तब तक तो कलिंग की जय का घोष वायु को सहन करना ही होगा !

तिष्य०—तू विद्रोह की बातें करती है, चारु !

चारु०—महारानी, मैं विद्रोह की बातें नहीं करती, मैं अपने देश के गौरव की बातें कह रही हूँ ?

तिष्य०—तब तो तू महाराज के साथ विश्वासघात कर सकती है !

चारु०—महारानी, मैंने महाराज की सेवा उस समय से की है, जब उनका राज्याभिषेक भी नहीं हुआ था । आपके चरणों की छाया में मैं बड़ी हुई हूँ । जब मैं महाराज की सेवा में कलिंग से आई थी, तब तो युद्ध की बात

ही नहीं थी। आज मेरा देश कलिंग संकट में है, तो महारानी, मुझे उसके संबंध में कुछ कहने की आज्ञा भी नहीं मिलेगी ?

तिष्य०—चारु, तुझे पूरी आज्ञा है किन्तु मैं महाराज का अपमान सहन नहीं कर सकती।

चारु०—संसार में उनका अपमान करने की क्षमता किसी में नहीं है, महारानी। और मैं तो उनकी आज्ञा सेविका हूँ।

तिष्य०—लेकिन जब से कलिंग युद्ध हुआ है, तब से मैं महारानी होकर भी तुझसे डरती हूँ।

चारु०—महारानी, आप मुझे आत्म-हत्या की ओर प्रेरित करती हैं।

तिष्य०—[हँसकर] मैं तो तुझसे हँसी कर रही थी, चारु। तू भी कभी हमसे विश्वासघात कर सकती है ? "चारु, मुझे प्यास लग रही है।

चारु०—जो आज्ञा [कोने से पात्र भरकर देती है।]

तिष्य०—[दो थूट पीकर] लेकिन चारु, यह युद्ध मुझे नहीं चाहिए। कितने दिनों से इस शिविर में रहते हुए जैसे मेरा सुख सपना बनता जा रहा है। यदि महाराज का वियोग सहन कर सकती, तो चारु मैं पाटलीपुत्र से कलिंग के इस शिविर में न आती। रात्रि में युद्ध की समाप्ति पर उनके दर्शन कर लेती हूँ तो जैसे वृद्धा से युवती बन जाती हूँ। आज कहूँगी कि वे कलिंग का युद्ध बंद कर दें। वीरों को स्वतंत्र सौँस लेने देना भी तो दया की क्रूरता पर विजय है। मुझे तो इस विजय पर ही सतोष है।

चारु०—आप देवी हैं।

तिष्य०—फिर बतला क्या उपाय करूँ, चारु ? महाराज तक्षशिला में रह कर बड़े क्रूर बन गये हैं। कहते हैं, पूज्य पितामह, जिन्होंने निकेटर सित्यूकस की प्रचंड सेना का नाश कर दिया था, जिन्होंने अलक्षेंद्र के राज्य की दिशा बदल दी थी, तक्षशिला के ही तो विद्यार्थी थे। पितामह के योग्य पौत्र बनने का आदर्श जो है उनके सामने।

चारु०—हाँ, महारानी ।

तिष्य०—अच्छा चारु, आज महाराज से एक बात पूछूँगी कि आपके पूज्य पितामह ने तो सेल्यूकस पर विजय पाकर उनकी सुंदरी कन्या पर भी विजय पाई थी । क्या आपकी विजय में भी किसी.....

चारु०—महारानी, ज़मा करें । कलिग देश वीरों का देश है, कन्याओं का नहीं !

तिष्य०—क्या कलिग देश में कन्याएँ होती ही नहीं ? चारु, तू तो अपने देश की तारीफ़ करते करते ऊबती नहीं । महाराज की तारीफ़ क्यों नहीं करती जिन्होंने कलिग से युद्ध होने पर भी कलिग देश की सेविका को अपने देश से नहीं निकाला ।

चारु०—महारानी, महाराज अशोक सम्राट् है । मेरे यहाँ रहने से उनका क्या बनता-बिगड़ता है ।

तिष्य०—आचार्य चाणक्य ने शत्रु के विषय में क्या कहा है, जानती है ? कहा है—शत्रु कभी छोटा नहीं होता ।

चारु०—महारानी, मैं अपने पद से अलग होने की आज्ञा चाहती हूँ ।

तिष्य० [हँसकर]—बस, बुरा मान गई ! बात बात पर आज्ञा चाहती है । अरे तू सेविका होकर भी मेरी सखी है । अच्छा देख, मेरा चित्र आँर ध्यान से देख !

चारु० [ध्यान से देखने हुए]—महारानी, आपने तो दृढ़ हुए वृक्ष बनाये हैं और उनमें लाल रंग भर दिया है ।

तिष्य०—बतला, इसमें क्या रहस्य है ?

चारु०—मैं चित्रकला नहीं जानती, महारानी ।

तिष्य०—अरे, यह तो साधारण समझ की बात है । यह चित्र मैं महाराज को दिखलाना चाहती हूँ । उनसे कहूँगी—देखिए आपने कलिग के

वीरों को तो खून से नहला ही दिया है। अब आपकी तलवार इन बेचारे वृश्चो पर भी पड़ी है और उनकी शाखा और टहनियों से यह रक्त निकल रहा है।

चारु०—महारानी, आपकी बात की थाह नहीं ली जा सकती।

तिष्य०—चारु !

चारु०—महारानी !

तिष्य०—महाराज अभी नहीं आये ?

चारु०—नहीं, महारानी !

तिष्य०—देख यह गोदावरी का मुरम्भ तट, ये पानी की लहरें जैसे सौंदर्य की मालाएँ हो, जो आप से आप गुंथकर बड़ी होती है और तट पर किसी का हृदय न पाकर टूट जाती है।

चारु०—हाँ, महारानी !

तिष्य०—और ये जो पक्षी उड़ते चले जा रहे हैं जैसे प्रेम की ग्रंथियाँ हैं जिन्होंने आकाश में उड़ना सीख लिया है। अच्छा सुन, यह समस्त वातावरण तेरा नाच देखना चाहता है। तू नाच सकेगी ?

चारु०—जो आज्ञा, महारानी !

तिष्य०—जा, जल्दी पैरों में संगीत भर ला !

[चारु जाती है। तिष्या थोड़ी देर प्रकृति की ओर देखती है, फिर अपने चित्र के पास आकर तूलिका उठाती है और उसमें रंग भरने लगती है। धीरे धीरे गाती जाती है—

अली पहिचान गया कलि को !

चारु पैर में नूपुर पहनकर आती है और तिष्य के सामने खड़ी होती है।]

चारु०—आज्ञा है ?

तिण्य०—मेरी, और उस कली की भी जो नाच के साथ खिलना चाहती है ।

[चारु प्रणाम कर नृत्य करती है । कुछ समय तक नृत्य होता है । तिण्य तन्मय होकर देखती है, कभी बीच बीच में प्रशंसा करती जाती है । अकस्मात् 'महाराज अशोक की जय' का घोष । नृत्य रुक जाता है । तिण्य चारु को देखती है और चारु तिण्य को ।

'महाराज अशोक की जय' ! 'सम्राट् अशोक की जय' ! शीघ्रता से एक परिचारिका का प्रवेश ।]

परि०—महारानी, महाराज शिविर में लौट रहे हैं ।
[जाती है ।]

चारु०—महारानी, अब क्या होगा ?

तिण्य०—कुछ नहीं । तू अपने नूपुर उतार दे ।

चारु०—[सिग हिलाकर] जो आज्ञा ।

[बैठ कर नूपुर उतारने लगती है । एक पैर का नूपुर उतर जाता है, लेकिन दूसरे पैर का उतारने में उलझ जाता है और प्रयत्न करने पर भी नहीं उतरता । इतने में ही जय-घोष के साथ महाराज अशोक का प्रवेश । तिण्य और चारु प्रणाम करती हैं । अशोक अभय-मुद्रा में हाथ ऊपर करते हैं ।]

अशोक—विजय, देवी, आज युद्ध में फिर विजय ! ओह, तुम्हारी मंगल कामनाओं में कितनी शक्ति है ! विजय, विजय, विजय ! [हाथ उठाता है ।]

तिण्य०—महाराज की विजय हो !

चारु०—महाराजाधिराज की विजय हो !

अशोक—देवी, शत्रुओं की संख्या बहुत अधिक थी । हाथी और घोड़े जैसे दुर्भाग्य की तरह अड़े हुए थे, लेकिन तुम्हारी मंगल-कामना

ने मुझे और मेरे वीरो को ऐसी शक्ति दी कि वे सूखे पत्तों की तरह बिखर कर चूर हो गये। मेरी शक्ति के पीछे देवी, तुम्हारी मंगल-कामना है। चारु-मित्रा, देवी पर पुष्प-वर्षा हो।

[चारुमित्रा आगे बढ़ने के लिए पैर उठाती है कि उसके पैर का नूपुर शब्द कर उठता है।]

अशोक—[चारु के पैरों पर दृष्टि गड़ाकर] अरे यह क्या ? नृत्य ! संग्रामभूमि में रंगभूमि ! [प्रश्नसूचक मुद्रा में] चारु !

चारु०—महाराज, क्षमा चाहती हूँ।

अशोक—मेरी युद्धभूमि में केवल भैरवी का नृत्य हो सकता है, चारु-मित्रा का नहीं।

चारु०—महाराज.....

अशोक—और उस भैरवी नृत्य में तलवारों का संगीत होगा, नूपुरों का नहीं !

चारु०—महाराज.....

अशोक—मेरे युद्ध के उत्साह में कोमलता भरने वाली चारुमित्रा, तुझे क्या पुरस्कार चाहिए ! रत्नों का हार, मोती की माला ?

चारु०—मुझे दंड दीजिए महाराज !

अशोक—मेरे युद्ध के उत्साह में कोमलता भरने वाली चारुमित्रा, तुझे दंड ही मिलेगा। तू इस नीति से मुझे युद्ध करने से रोकना चाहती है ? छी ! कलिंग से उत्पन्न शरीर कलिंग का ही साथ देगा ! विश्वासघातिनी ! चारुमित्रा !! (पुकार कर) राजुक !

[राजुक का प्रवेश]

अशोक—राजुक, चारुमित्रा जलते हुए अंगारों पर नाचना चाहती है ! आग तैयार हो !

रा०--जो आज्ञा ! [प्रणाम कर प्रस्थान ।]

अशोक--चारुमित्रा, दूसरे पैर में भी नूपुर पहन ले । एक पैर से पूरी श्वनि नहीं निकलेगी । दूसरा पैर नूपुरों की प्रतीक्षा में है ।

[चारु दूसरे पैर में भी नूपुर पहनने के लिए झुकती है ।]

तिष्य०--महाराज !

अशोक--देवी !

तिष्य०--महाराज, चारु का दोष नहीं है ।

अशोक--देवी, चारु का दोष नहीं है ? यह कैसी बात कहती हो ? कलिंग के शरीर में कलिंग की आत्मा का मगध के साथ क्या व्यवहार हो सकता है ? चारु जानती है कि मेरे क्रोध में उसका देश जल रहा है । वह मेरे क्रोध की ज्वाला को शांत करने के लिए अपने संगीत और नृत्य का प्रयोग करना चाहती है । मुझे नहीं सुना सकती तो तुम्हें सुना कर तुम्हारे द्वारा मुझमें कोमलता का संचार करना चाहती है । मैं देख रहा हूँ, तुम्हारे स्वभाव को भी उसने दया से भर दिया है ।

तिष्य०--महाराज, दया करना तो स्त्री का स्वाभाविक धर्म है । चारु मुझे क्या दया से भर सकती है । किन्तु महाराज, चारु निरपराध है । आपके वियोग के क्षणों को काटने का यह मेरा साधारण उपाय था । मैंने ही चारु को आज्ञा दी थी कि वह नृत्य करे ।

अशोक--तुमने आज्ञा दी थी ?

तिष्य०--हाँ, महाराज, युद्ध के भयानक क्षणों में स्त्री के एकाकी हृदय को कौन-सा सहारा है ? संगीत, नृत्य, चित्रकला ! यही तो !

अशोक--चारु अपनी ओर से नृत्य करने नहीं आई ?

तिष्य०--नहीं महाराज, उसे क्षमा कीजिए ।

अशोक--अशोक ने किसी को भी अपराध करने पर क्षमा नहीं किया,

किंतु इस समय क्षमा करता हूँ । [चारु की ओर देखकर] चारु, तुम्हें क्षमा करता हूँ । अच्छा हो कि तुम्हारा नृत्य भैरवी-नृत्य बनकर मगध की विजय के लिए हो । और यदि ऐसा न कर सको तो फिर यह नृत्य अपने कलिग के कटते हुए वीरों के सोंडों और मुंडों के लिए रहने दो । [पुकार कर] राजुक !

[राजुक का प्रवेश]

अशोक—आग तैयार हो गई ?

रा०—जी ।

अशोक—उस आग से उन कायरों को शीतल करो जो आज युद्ध-भूमि से पीछे हटे हैं ।

रा०—जो आज्ञा । [जाने लगता है]

अशोक—और सुनो—यह मत सुनना कि वे संचालनकौशल से सावधानी के साथ पीछे हटे हैं । युद्धभूमि के अतिरिक्त प्रत्येक भूमि वीरों के लिये कलंक-भूमि है ।

रा०—जो आज्ञा !

[जाता है ।]

अशोक—चारु, जा, इन संगीत भरे पैरों को विश्राम की आवश्यकता है ।

[चारु सिर झुकाकर जाती है ।]

अशोक—देवी, कलिग से युद्ध करते समय मुझे ज्ञात होता था जैसे पाटलीपुत्र की शक्ति से एक प्रलय उत्पन्न हुआ है, जो कलिग को खून के समुद्र में डुबाना चाहता है । तक्षशिला, गान्धार, उज्जैन और तोशली के बड़े बड़े वीर मेरी घूमती हुई दृष्टि की दिशा में ही अपनी तलवार घुमाते थे । सेना की एक-एक टुकड़ी पानी की लहर की तरह बढ़ती और धीरे धीरे बढ़ी होकर शत्रुओं की तलवार से टकराती थी । वे तलवार भी नहीं घुमा सकते

थे । उस समय मुझे तो ऐसा ज्ञात होता था कि मेरी ललकार भी तलवार थी, जिसके सामने घूमा हुआ हथियार भी लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाता था ।

तिथ्य०—महाराज, इतना रक्तपात.....

अशोक—मैंने अपनी सेना का अर्धव्यूह बनाकर आक्रमण किया था । शत्रु सोचते थे जैसे सहस्रो धूमकेतु एक विशेष आकार में कसे हुए मौत की आग लेकर आ रहे हैं । न जाने कितने शत्रु हाथियों के पैरों से पिस गये—सैकड़ो घोड़ों के पैरों में उलझकर खून का नाला महानदी में मिलने के लिये जा रहा है ।

तिथ्य०—महाराज, इतना भयानक युद्ध !

अशोक०—मुझ पर भी एक वीर ने तलवार चलाई । मैंने तत्क्षक की तरह अपना सिर बचा लिया । उसकी तलवार वायुमंडल में खाली चक्र बनाकर रह गई । अपने निष्फल हुए आक्रमण के वेग से वह मुड़ गया । उसके मुड़ते मैंने तलवार की नोक उसकी पसलियों में घुसेड़ दी । उसकी ललकार आह में बदलकर खून में डूब गई । वह टूटे हुए पेड़ की तरह ज़मीन पर गिर पड़ा ।

तिथ्य०—महाराज, आपका युद्ध-कौशल भयानक है !

अशोक०—फिर मैं मरे हुए घोड़े की पीठ से पैर टेक कर लड़ता रहा । शत्रुओं के नायक वीरभद्र की तलवार जैसे ही आगे गिरने के लिए अर्धचंद्र बना रही थी वैसे ही मैंने झुक कर कक्ष भाग से कंधे पर ऐसा वार किया कि अपने वेग में, भुजा समेत उड़कर उसकी तलवार एक हाथी की पीठ में घुस गई । हाथी शत्रु-पक्ष को कुचलता हुआ भाग खड़ा हुआ । उसी वक्त मेना के पैर उखड़ गये और आज की विजय ने, देवी, तुम्हारे गले में माला पहिना दी !

तिथ्य०—महाराज, बहुत भयानक युद्ध है ! अब सहन नहीं हो सकता ।

अशोक—देवी, तुम बड़ी कोमल-हृदया हो। यह युद्ध तुम्हारे लिए नहीं है। इसीलिए मैं चाहता था कि तुम पाटलीपुत्र में ही रहो। किंतु तुम्हारा ही अनुरोध मुझे विवश कर सका कि तुम्हें साथ ले आया।

तिष्य०—महाराज, यदि मैं एक अनुरोध और करूँ ?]

अशोक०—क्या ?

तिष्य०—यह युद्ध रोक दीजिए !

अशोक०—यह क्या कह रही हो देवी ? युद्ध का रुक जाना पाटलीपुत्र की उन्नति का रुक जाना है। किसी भी साम्राज्य की सीमा तलवार से खींची जाती है और सीमा को स्थायी रखने के लिए उस रेखा में रक्त का रंग भरा जाता है ! [कक्ष में दृष्टि डालता है। चित्रफलक पर दृष्टि डाल कर] अच्छा, यह तुमने बड़ा सुन्दर चित्र बनाया है !

तिष्य०—हाँ, महाराज, आपको पसंद है ?

अशोक०—बहुत ही सुंदर है। यह तो उस कुज का है, जहाँ बैठकर मैंने युद्ध का कार्यक्रम बनाया था।

तिष्य०—हाँ महाराज, मैं भी साथ थी।

अशोक०—तो ये वृक्ष टूटे हुए क्यों दिखाये गये हैं ?

तिष्य०—महाराज, युद्ध की तेज़ी में आपकी तलवार शत्रुओं पर पड़ने के साथ ही इन वृक्षों पर भी पड़ी है। वे भी बेचारे कट गये हैं और उनमें रक्त निकल रहा है।

अशोक०—तो रक्त के स्थान पर लाल रंग की क्या आवश्यकता ! सच्चा रक्त भरो इनमें। वह तो बहुत मिल सकता है। मैंने कितने खून की शारीरिक सीमाएँ नष्ट कर उन्हें पृथ्वी पर बहने में पूर्ण स्वतंत्रता दी है। वही से रक्त लो।

तिष्य०—महाराज, मेरा हृदय काँप रहा है इस युद्ध की भयानकता

मे । आप क्यों इतने वीरो के रक्त से राज्यश्री को अग्नि का रूप देना चाहते हैं ?

अशोक०—देवी, अग्नि में तप कर ही स्वर्ण पवित्र होता है । आज मेरी तलवार में शक्ति है । उसका अधिक से अधिक उपयोग होने दो ।

तिष्य०—जैसी महाराज की इच्छा । लेकिन मुझे बहुत दुःख है इस कृता पर महाराज [सिर झुका लेती है ।]

अशोक—[मनाते हुए] तुम दुखी हो देवी ? नहीं, दुखी होने की क्या बात ? तुम तो दया की देवी हो । तुम्हें तो किसी के दुःख से भी दुःख होने लगता है । मैं यथाशक्ति तुम्हारे सद्भावों की रक्षा तो करता हूँ । देखो देवी, आज तुम्हारी दया की ढाल ने मेरे दंड के कृपाण को खूब रोका...

तिष्य०—महाराज, चारु निरपराध थी ।

अशोक—रणभूमि की दृष्टि से, या रंगभूमि की दृष्टि से ?

तिष्य०—महाराज, वह सेविका है, आपके चरणों की छाया में ही वह बड़ी हुई है ।

अशोक—किंतु आवश्यकता से अधिक बढ़ने पर उसे काटने-छोटने की आवश्यकता होगी । देवी, मैं अपने शिविर में शत्रु-पक्ष के किसी व्यक्ति को अब रहने की आज्ञा नहीं दे सकता ।

तिष्य०—किंतु अब वह शत्रु-पक्ष की कहाँ है महाराज ? वह तो उस समय से आपकी सेविका है, जब कलिंग से युद्ध भी नहीं छिड़ा था ।

अशोक—किंतु कृपा की दृष्टि राजनीति की दृष्टि नहीं होती देवि ! आज युद्ध से लौटते समय मैंने चारु के संबंध में विचार किया था ।

तिष्य०—युद्ध से लौटते समय !

अशोक—हाँ, युद्ध से लौटते समय कलिंग के कुछ व्यक्ति मुझे प्रणाम कर

रहे थे, मुझे उनके प्रणाम में चारु का प्रणाम दीख पड़ा। यदि इस समय चारु नृत्य न भी करती तो भी मैं उसे दंडित तो करता ही।

तिष्य०—किंतु वह बेचारी !

अशोक—राजनीति तिष्यरक्षिता नहीं है देवी, जो दया से तरल हो जाय। लेकिन आज तुम्हारे कहने से मैंने राजनीति को स्त्री का हृदय बना दिया।

तिष्य०—महाराज, आपकी कृपा। आप विश्राम कीजिए !

अशोक—देवी, मुझे विश्राम ! पितामह चंद्रगुप्त ने २४ वर्ष के शासन में कितना विश्राम लिया ? तक्षशिला से मगध तक पृथ्वी का प्रत्येक कण उनकी आहट सुनकर काँपता था। बहुत से छोटे-छोटे राज्यों को एक मंत्र में गूँथकर उन्होंने अपनी राज्यश्री को विजय-माला पहनाई थी। सेत्यूकम निक्केटर से उन्होंने गांधार और सीमाप्रांत लेकर आर्यावर्त के मुकुट में कुछ रत्न और जड़ दिये थे। मैं उन्हीं की संतान हूँ देवी। विश्राम के लंबे क्षणों में राज्य सीमा संकुचित हो जाती है।

तिष्य०—ठीक है महाराज, पर कलिंग युद्ध ने आपको बहुत उत्तेजित कर दिया है !

अशोक—कलिंग अपने को सम्राट् मानता है। वह पाटलीपुत्र का आधिपत्य नहीं मानता। सुमात्रा और जावा में उसने अपने उपनिवेश स्थापित कर रखे हैं। जलयात्रा में विहार करता है और समझता है कि वह आर्यावर्त का सम्राट् है। तिष्या, वह मेरे शासन के मार्ग को एक स्तूप बनकर रोकना चाहता है। मैं आचार्य उपगुप्त के उपदेशों की भाँति उसे भी ठोकर मार देना चाहता हूँ।

तिष्य०—महाराज, आचार्य उपगुप्त में और कलिंग में समानता नहीं हो सकती।

अशोक—क्यों नहीं ? आचार्य उपगुप्त बौद्ध धर्म के सबसे बड़े आचार्य हैं, कलिंग विद्रोहियों का सबसे बड़ा नेता है। मैं बौद्ध धर्म और कलिंग दोनों का नाश करूँगा।

तिष्य०—क्षमा, दया, करुणा, महाराज ! आचार्य उपगुप्त कल यहाँ आये थे। उन्होंने कलिंग के भीषण रक्तपात को देखकर कहा था कि बुद्धि का अक्षय कोष मनुष्य, थोड़ी-सी भूमि के लिए मनुष्यत्व को मिट्टी में मिला देना चाहता है। कलिंग के संबंध में कहा था कि अहंकार का फल यही हुआ है और होगा।

अशोक—यह व्यंग्य मुझ पर किया गया है, देवो !

तिष्य०—महाराज, उनके कथन में सत्य है। क्या अहंकार का नाश नहीं होना चाहिए ?

अशोक—अहंकार और राज्य-धर्म में अंतर है। राज्य-धर्म पाटलीपुत्र का अधिकार है और अहंकार कलिंग की वृत्ति है। उसे अपनी सेना का अहंकार है। उसके पास साठ हजार पैदल, सात सौ हाथी और एक हजार घुड़सवार हैं। समझता है कि वह इंद्र का वंशज है। मैं अपनी सेना के हाथों उसके अहंकार के पौधे को उखाड़ फेंकूँगा तिष्या !

तिष्य०—कितनों का रक्त बहेगा महाराज !

अशोक—उसमें आर्यावर्त को नहलाकर पवित्र करना चाहता हूँ, देवी !

[नैपथ्य में भयानक तुमुल ! किसी स्त्री का क्रन्दन स्वर—अशोक का नाश हो... अशोक का सर्वनाश हो !! प्रहरी का स्वर—पुण्य, मार डालो इसे भी !]

तिष्य०—[कान बंद कर क्रन्दन स्वर में] नहीं, महाराज ! [अशोक के वक्षस्थल में छिप जाती है। अशोक ज़ोर से आवाज़ देता है।] नहीं ! [फिर तिष्य की पीठ पर हाथ फेर कर] शांत हो ! शांत हो—

मैं अभी देखता हूँ । [अशोक तिष्य को सम्हाल कर आसन पर बिठलाता है, फिर शिविर की खिडकी से देखता हुआ] पुण्य, इस स्त्री को मेरे शिविर में भेजो ।

[तिष्य अपने हाथों से नेत्र बंद किये हुए है । अशोक तिष्य के हाथों को आँखों से हटा अपने हाथों में लेता है ।]

अशोक—देवी, मैं अभी देखता हूँ कौन है ।

तिष्य०—महाराज, मैं आपका अमंगल नहीं सुन सकती । [आकाश की ओर देखते हुए] महाराज का मंगल हो, महाराज का मंगल हो, महाराज का मंगल हो !

अशोक—कोई स्त्री है, गोद में एक बच्चे को लिये हुए है ।

तिष्य०—मैं पूछूँगी, वह कौन है—क्यों ऐसी अशुभ बात मुँह से निकालती है ?

अशोक—अवश्य—तुम्हीं पूछो । मैं शस्त्र बदलने जाता हूँ । [जाता है ।]

[प्रहरी एक स्त्री को लेकर आता है । तिष्य के संकेत से प्रहरी हट जाता है । वह स्त्री लगभग २५ वर्ष की होगी । उसके बाल और वस्त्र अस्त-व्यस्त हैं । वह अपने बच्चे को गोद में लिये हुए है । उसकी मुद्रा पागल स्त्री की तरह है ।]

तिष्य०—आओ, आओ, देवी, तुम कौन हो ?

स्त्री—[विस्फारित नेत्रों से एक बार ही फूट कर] ओह, रानी ! अशोक का सर्वनाश हो.....अशोक का सर्वनाश हो...मुझे भी मार डालो, मुझे भी मार डालो ।

तिष्य०—ठहरो ठहरो, तुम महाराज के संबंध में कुछ नहीं कह सकती । चुप रहो । क्या चाहती हो ?

स्त्री—मैं क्या चाहती हूँ ? मेरे बच्चे के दुकड़े दुकड़े कर डालो । यह अभी मरा नहीं है । [पुत्र की ओर देखकर] लाल, अभी तुम मरे नहीं हो । ये लोग तुम्हारे दुकड़े दुकड़े कर डालेंगे, तब तुम मरोगे । तब तक कुछ तो बोलो — बोलो मेरे लाल ! [अपने बच्चे को अपने हाथों हाँ में झकझोरती है ।]

[अशोक का प्रवेश । वह दूर चुपचाप इस तरह खड़ा हो जाता है कि तिष्य के पीछे है और तिष्य की दृष्टि उस पर नहीं पड़ती । माता अपने बच्चे को देखकर]—तेरा खून इतना मीठा है मेरे बच्चे ! राजा तक उसे पीना चाहता है ! और खून हो तो अपने नन्हे से कलेजे को सामने रख दे । ये सब मिलकर पी लें ।

तिष्य०—क्या तुम्हारा बच्चा मर गया है ! कैसे ?

स्त्री—अशोक राक्षस ले गया मेरे बच्चे को । राज्य नहीं चाहता था मेरा लाल, लेकिन मेरे लाल को अशोक ले गया । ले गया इसे—

अशोक [आगे बढ़कर] यह क्या कह रही हो तुम ? ठीक तरह से बतलाओ । तुम्हारा न्याय होगा । यह बच्चा कैसे मरा ?

स्त्री—मुझे न्याय नहीं चाहिए—नहीं चाहिए ! पाटलीपुत्र से न्याय उठ गया ! इसके पिता को सैनिकों ने घेर कर मारा और जब मैं इसे बचाने लगी तो इसके फूल से कलेजे में भाला घुसेड़ दिया उन राक्षसों ने । मेरे बच्चे को राज नहीं चाहिए था । मेरा छोटा राजा तुम्हारा राज नहीं चाहता था । तब भी इसे—तब भी इसे.....

अशोक—ठहरो, मैं उन दुष्टों को दंड दूँगा । वीरों के लिए उनका भाला है, शिशुओं के लिए नहीं ।

तिष्य०—महाराज, न्याय होना चाहिए बेचारी स्त्री का ।

अशोक—होगा और अवश्य होगा ।

स्त्री—मैं अब न्याय लेकर क्या कहूँगी ! लाओ महाराज, मैं तुम्हें राजतिलक कर दूँ। अपने बच्चे के खून का तिलक लगा कर — [चिल्लाकर] महाराज अशोक...चक्रवर्ती अशोक...

अशोक—मैं अभी न्याय करूँगा । [पुकारते हुए] पुण्य

[प्रहरी का प्रवेश]

अशोक—इस स्त्री को विश्राम शिविरो में ले जाकर अपराधियों की पहिचान कराओ, मैं अभी आता हूँ। जाओ.....

[जाने को उद्यत होता है]

अशोक—और उन अपराधियों को बंदी कर मेरे सामने उपस्थित करना। समझे ?

प्रहरी—जो आज्ञा । [स्त्री से] चलो । [स्त्री को बलपूर्वक ले जाता है ।]

स्त्री—[जाते हुए, नैपथ्य से] मेरा बच्चा, मेरा लाल ! [धीरे धीरे शब्द क्षीण हो जाता है। कुछ देर तक स्तब्धता रहती है। अशोक विचार-मग्न है, तिप्य कहती है ।]

तिप्य०—महाराज, मुझे मूर्छा-सी आ रही है।

अशोक—देवी, विश्राम करो। मैं अभी न्याय करूँगा।

तिप्य०—महाराज, यह रक्तपात अब बंद हो !

अशोक—एक छोटी-सी घटना राज्य की बढ़ती हुई बेल को काट दे ! यह घटना तुम्हारा चित्र नहीं है देवी, जिसमें तूलिका के हलके झटके से राज्य की बेल कट जाय। देवी, युद्ध में तो यह सब होता ही है।

तिप्य०—महाराज, मैं क्या करूँ ?

अशोक—विश्राम करो। मैं विश्राम-शिविरो में अभी जाता हूँ। सेना

के विश्राम की क्या व्यवस्था है, घायलों की क्या सुश्रूषा हो रही है, यह मुझे देखना है । [पुकारकर] राजुक ! [राजुक का प्रवेश ।]

अशोक—महामात्रों से कहो कि अश्व तैयार हो । उन्हें मेरे साथ नैश-निरीक्षण के लिए चलना होगा ।

रा०—जो आज्ञा, महाराज ! [जाता है ।]

अशोक—देवी, महाराज विदुसार ने राज्य की सीमा नहीं बढ़ाई । वे कदाचित् यह उत्तरदायित्व मेरे लिए छोड़ गये हैं । सम्राट चंद्रगुप्त के परिश्रम की परंपरा कुछ वर्षों तक तो चले !

निष्य०—कब तक महाराज ?

अशोक—जब तक कि पाटलिपुत्र का प्रवासी नागरिक कलिंग के जन-पद में निवासी होकर न रहने लगे ।

[राजुक का प्रवेश]

रा०—महाराज, महामात्र और अश्व तैयार है ।

अशोक—अच्छा, जाओ, मैं अभी आता हूँ । [निष्य से] देवी, आज उस स्त्री का न्याय भी करूँगा और निरीक्षण भी । सैनिकों के पुरस्कार और दंड की व्यवस्था एक साथ ही होगी । देवी, मंगल कामना करो कि मगध चिरजीवी हो ।

निष्य०—महाराज, मेरे दुःख में भी मगध चिरजीवी हो ।

[अशोक का प्रस्थान ।]

निष्य०—वायु के प्रवाह की भाँति सदैव अस्थिर ! अभी आये और अभी चले गये ! मैं क्या करूँ ! [चित्र की ओर दृष्टि डालती है ।] यह चित्र ! [क्रोध से फाड़कर फेंक देती है । पुकार कर] स्वयंप्रभा !

[स्वयंप्रभा का प्रवेश । वह प्रणाम करती है ।]

स्व०—महारानी, यह क्या ? यह चित्र किसने फाड़ दिया ? ओह...
इतना सुन्दर चित्र !

तिष्य०—मैने—मैने इसे नष्ट कर दिया ।

स्व०—मै इसे जोड़ सकती हूँ ?

तिष्य०—नहीं । इसे उठा कर बाहर फेंक दे ।

[स्वयंप्रभा फटे हुए चित्र के टुकड़े एकत्र करती है ।]

तिष्य०—स्वयंप्रभा, महाराज गये ?

स्व०—जी महारानी, पाँच महामात्रों के साथ अभी अभी गये है ।

तिष्य०—चले गये ! तू क्या कर रही थी ?

स्व०—महारानी, आपके सुंदर गीतों की स्वरलिपि लिख रही थी ।

तिष्य०—सबको नष्ट कर दे । महाराज यह सब कुछ नहीं चाहते ।

स्व०—महारानी, बड़े सुंदर गीत है !

तिष्य०—इस विषय में बात मत कर । जा ।

[स्वयंप्रभा जाना चाहती है ।]

तिष्य०—चारु कहाँ है ?

स्व०—महारानी, अभी तो यही थी । कदाचित् शिविरकक्ष में हो ।

तिष्य०—रो रही थी ?

स्व०—महारानी, उदास तो बहुत थी । ज्ञात होता था कि उसके आँसू
सूख गये हैं, किन्तु हृदय रो रहा है ।

तिष्य०—तूने उससे बातें की ?

स्व०—महारानी, आपके गीतों की स्वरलिपि पूछी, वह कुछ भी नहीं
कह सकी ।

तिष्य०—बेचारी चारु ! आज चारु पर महाराज बहुत अप्रसन्न हुए ।

स्व०—महारानी, उससे कभी कोई अपराध तो हुआ नहीं ।

तिथ्य०—कहते थे कि वह कलिंग की है, शत्रु-पक्ष की ।

स्व०—महारानी, आज तक महाराज की सेवा उसने जितनी श्रद्धा और भक्ति से की है, उतनी पाटलिपुत्र की किसी सेविका ने नहीं । वह तो महाराज के अंतःपुर की अगरशिका है ।

तिथ्य०—हाँ, मैं भी यही समझती हूँ ।

स्व०—महारानी, महाराज की इच्छा ही उसके कार्य का नाम है । वह कैसे विश्वासघातिनी हो सकती है ?

तिथ्य०—कहते थे, राजनीति का दृष्टि दया की दृष्टि नहीं है ।

स्व०—महारानी, राजनीति भी कोई राजनीति है यदि उसमें सच्ची सेवा और सच्चे प्रेम में संदेह उत्पन्न हो जाय !

तिथ्य०—यही संदेह तो शायद उनके जीवन की सफलता है । उन्होंने शत्रु के छोटे से छूटे कार्य को अपनी शक्ति से छिन्न-भिन्न कर दिया है । आज मेरी प्रार्थना पर ही उन्होंने चारु को क्षमा किया ।

स्व०—महारानी, आपकी करुणा ने महाराज की शक्ति के साथ रह कर राज्य को संतुलित किया है ।

तिथ्य०—स्वयंप्रभा, आज मेरी करुणा सीमा तक पहुँच गई ।

स्व०—कैसे, महारानी ?

तिथ्य०—एक स्त्री के छोटे से बच्चे को सैनिकों ने मार डाला ।

स्व०—हाँ, महारानी, मैंने भी सुना ।

तिथ्य०—महाराज न्याय करने गये हैं । देखें, क्या न्याय करते हैं । मैं तो आज बहुत अशांत हूँ ।

स्व०—महारानी, विश्राम कीजिए.....

[नैपथ्य में—बुद्धं सरण गच्छामि, धम्मं सरण गच्छामि, सघं सरणं गच्छामि ।]

स्व०—आचार्य उपगुप्त का कंठ स्वर है, महारानी !

तिप्य०—[स्वस्थ होकर] जाकर उन्हे यहाँ ले आ । मैं बहुत विह्वल हो रही हूँ ।

स्व०—जो आज्ञा, महारानी । [स्वयंप्रभा जाती है ।]

तिप्य०—[अपने आप मद कंठ स्वर से] महात्मा उपगुप्त . . .

[सम्हल कर उठती है और स्वयं आसन ठीक करती है । प्रतीक्षा-दृष्टि में द्वार की ओर देखती है । स्वयंप्रभा के साथ महात्मा उपगुप्त का प्रवेश । महात्मा उपगुप्त बौद्ध भिक्षु के वेश में हैं । पीत वस्त्र धारण किये हुए हैं । हाथ में भिक्षा-पात्र ।]

तिप्य०—प्रणाम करती हूँ भंते !

उ०—[अभय हस्त] सुखी रहो देवी ! क्या महाराज नहीं है ?

तिप्य०—भंते, वीर पुरुष घर नहीं रहते । रणक्षेत्र ही उनका घर है ।

उ०—देवी, रण-क्षेत्र हृदय को शांति नहीं दे सकता । तथागत ने कहा है—अहंकार और ईषणा का नाश करो । यह युद्ध अधिकार-लिप्सा है, इसका अंत नहीं है देवी !

तिप्य०—महात्मन्, आपका उपदेश महाराज के कानों तक पहुँचा ?

उ०—देवी, महाराज नीतिकुशल है । मेरी बातें सुनते हैं । मुस्कराकर कहते हैं—आप थक गये होंगे भंते विश्रामगृह आपकी प्रतीक्षा कर रहा है ।

तिप्य०—महात्मन्, यह युद्ध बंद होना चाहिए । मैं इस अत्याचार को सहन नहीं कर सकती ।

उ०—देवी, इस अत्याचार को कौन सहन कर सकता है ? एक लाख आदमी तो रक्ष-क्षेत्र में मर गये । तीन लाख घायल हुए हैं, जो एक लाख के पथ का अनुसरण करना चाहते हैं । देवी, रक्त की नदियाँ बह निकली हैं

जो महानदी की समानता करने को अप्रसर हैं । कलिंग राज्य के घर फूल की पंगुडियों की तरह गिर रहे हैं । देवी, तुम कुछ नहीं कर सकती ?

तिष्य०—महात्मन्, आज मैं रानी न होकर एक साधारण स्त्री होती, तो किसी प्रकार आत्म-बलिदान कर महाराज के मन की दिशा बदल देती । पत्नी होकर पति के मार्ग की बाधिका बनने का साहस मुझमें नहीं होता । राज-वंश की मर्यादा कैसे नष्ट कहें ! महात्मन्, मैं रानी होकर साधारण स्त्री भी नहीं रही !

उ०—तो कहता हूँ देवी, शांत होओ । जब तक मनुष्य आर्यसत्य से परिवर्तित नहीं होता, उसे दुःख उठाना ही पड़ता है । तथागत ने कहा है—भिक्षुओ, मैं सब बंधनों से—लौकिक और अलौकिक से—मुक्त हो गया । अनेक के लाभ के लिए विचरण करो, अनेक के हित के लिए विचरण करो, संसार के प्रति करुणा के लिए विचरण करो, देवताओं और मनुष्यों के कल्याण के लिए विचरण करो । देवी मुझे विश्वास हैं, महाराज अशोक इस धम्म-शिक्षा को मानकर संसार का कल्याण करेंगे ।

तिष्य०—भंते, मुझे विश्वास नहीं होता ।

उ०—समय की प्रतीक्षा करो । महाराज में परिवर्तन होगा । जब किसी व्यक्ति में शक्ति की क्षमता होती है तो बुरे मार्ग से अच्छे मार्ग पर और अच्छे मार्ग से बुरे मार्ग पर जाने में विलंब नहीं लगता । महाराज में शक्ति की क्षमता है और वे बुरे मार्ग पर हैं । किसी भयानक भावना से उनके हृदय की दिशा-परिवर्तन संभव है । वे विजय के आकांक्षी हैं । विजय प्राप्त करें, किन्तु हिंसा से नहीं, अहिंसा से । वे शासन करना चाहते हैं, करें किन्तु क्रोध से नहीं, करुणा से । वे विनाश करें, किन्तु जाति का नहीं, अपनी तृष्णा का । वे ज्ञान-प्राप्ति में प्रयत्नशील हों, राज्य-प्राप्ति में नहीं । ज्ञान अमर है, राज्य क्षणभंगुर है !

निष्य०—महाभिषु, आपका ज्ञान सुनकर हृदय को शांति मिलती है।

उ०—शांति-लाभ करो देवी, यही पथ निर्वाण का है। अच्छा देवी, अब मैं जाऊँगा। [उठ खड़े होते हैं।]

निष्य०—महात्मन्, खाशीवीद दीजिए कि राज्य में शांति हो।

उ०—ऐसा ही हो !

निष्य०—महात्मन्, भिक्षा स्वीकार कीजिए। मैं अपने हाथ से लाऊँगी !
[निष्य भीतर जाती है।]

स्व०—महात्मन्, आपसे एक प्रार्थना करना चाहती हूँ।

उ०—कैसी ?

स्व०—महात्मन्, आप चारु को तो जानते हैं ?

उ०—हाँ, हाँ, महाराज की सेवा में सतत रहने वाली।

स्व०—आज वह बहुत दुःखी है।

उ०—क्यों ?

स्व०—महाराज का उस पर से विश्वास उठ गया है !

उ०—इसलिए कि वह कलिंग-बालिका है ?

स्व०—जी हाँ।

उ०—तो उसके लिए उचित तो यही है कि वह महाराज की सेवा और भी संलग्नता के साथ करे। संदेह को सेवा से नष्ट कर दे। वह इस समय कहाँ होगी ?

स्व०—महाराज के बाहरी शिविर में।

उ०—अच्छा, मैं उससे मिलता जाऊँगा। उसे संतोष और शांति दकर फिर मैं संघाराम जाऊँगा।

स्व०—भंते, बड़ी कृपा होगी आपकी।

उ०—यह तो तथागत की आज्ञा है।

[तिष्य भिक्षा लेकर आती है ।]

तिष्य०—मुझे अपने हाथों आपकी सेवा में मधुकरी लाने में विशेष हर्ष हाता है भंते !

उ० — तुम सुखी रहो देवी ।

[तिष्य उपगुप्त को मधुकरी देती है ।]

उ० — अच्छा, अब जाऊँगा ।

तिष्य० — महात्मन्, प्रणाम ।

उ० — सुखी रहो ।

तिष्य० — स्वयं, महाभिक्षु को शिविर-द्वार तक पहुंचा दो ।

स्व० — जो आज्ञा ।

[स्वयं का उपगुप्त के साथ प्रस्थान]

तिष्य० — [सोचते हुए] तिष्य, तेरी दशा एक क्रीड़े की तरह है, जो ऐसी लकड़ी में रहता है जिसके दोनों ओर आग लग रही है । तू कहाँ रहेगी ?

[स्वयंप्रभा का प्रवेश]

स्व० — महारानी, भंते जाते समय आपके लिए स्वस्ति-वचन कह गये हैं ।

तिष्य० — तथागत को प्रणाम । स्वयंप्रभा, या तो मैं संघाराम चली जाऊँगी या वनवासिनी हो जाऊँगी ।

स्व० — महारानी, आप शांत हो ।

तिष्य० — नहीं स्वयंप्रभा, अब मुझे इस राज्य-श्री से घृणा हो रही है । उसके सजाने के लिए कितने मनुष्यों की बलि देनी पड़ रही है । रात-दिन युद्ध की बातें सुनते सुनते जैसे मेरी श्रवण-शक्ति विद्रोह कर रही है । अब मैं और कुछ सुनना नहीं चाहती । देख, इतनी अच्छी वन-श्री है । यहाँ ये

पेड़ और पर्वत कैसे सुख में दीख पड़ रहे हैं। ये तो किसी से लड़ने नहीं जाते, किसी का खून नहीं बहाते; लेकिन रात-दिन इन पर हरियाली छाई रहती है, फूल खिलते रहते हैं। निर्झर इनके चरणों को धाते रहते हैं। इन्हें किस बात की कमी है ? यह मनुष्य ही रात-दिन न जाने किस सुख के लिए दूसरे का सुख नष्ट करने में जुटा रहता है, खून की नदियाँ बहाता है ।

स्व०—महारानी, जीवन का सत्य यही है ।

तिप्य०—और स्वयंप्रभा, अगर मैं स्त्री न हाकर इसी पास के पेड़ की एक कली होती, तो आनंद के साथ वसंत के किसी प्रातःकाल में खिलकर सारे संसार को एक बार हँसती हुई आँखों से देख लेती और शाम होने पर सूर्य के पीछे-पीछे मैं भी चली जाती । स्त्री होकर—और महारानी होकर—मैं सुखी नहीं हूँ स्वयंप्रभा ! जीवन के सत्य से बहुत दूर जो जा पड़ी हूँ ।

स्व०—महारानी, आपका हृदय शांत हो ।

तिप्य०—स्वयंप्रभा, कैसे शांत हो ? शांति का उपाय करने के बदले मैं अशांति की लहरों में बही जा रही हूँ । पास में कोई कूल-किनारा नहीं है । मालूम होता है युद्ध की समाप्ति होते होते मेरा जीवन भी समाप्त हो जायगा ।

स्व०—महारानी, दुखी न हो । ऐसी बातें न करे ।

तिप्य०—मैं महाराज के सामने बहुत साहस कर कुछ बातें कहना चाहती हूँ । या तो मैं कह नहीं सकती या महाराज की दृष्टि मुझे कहने नहीं देती । साहस कर दो-एक शब्दों में यदि कुछ कहती भी हूँ, तो महाराज की वीरता की लहर में मेरे शब्द बुद्बुद की भाँति बह जाते हैं ।

स्व०—महारानी जी, आप जो कुछ भी कह सकती हैं, महाराज के सामने उतना कहने की शक्ति संसार के किसी भी व्यक्ति में नहीं है ।

तिप्य०—किंतु उसका परिणाम कुछ नहीं । स्वयंप्रभा, चारु को बुलायेगी ।

[नेपथ्य में महाराज अशोक की जय—जय !]

तिष्य०—स्वयंप्रभा, रहने दे, किसी को मत बुला । महाराज आ रहे हैं ।

[चितित मुद्रा में अशोक का प्रवेश । तिष्य प्रणाम करती है । स्वयंप्रभा अधिक झुककर प्रणाम करती है ।]

अशोक—देवी, न्याय नहीं हो सका !

तिष्य०—महाराज, उस स्त्री का न्याय !

अशोक—हाँ देवी, वह स्त्री उसी शिविर में आत्महत्या करके मर गई ।

तिष्य०—मर गई ! [करुण स्वर में] आह, बेचारी स्त्री !

अशोक—मैंने पुण्य को आज्ञा दी थी कि वह उस स्त्री को विश्राम-शिविर में ले जाकर खड़ी कर दे । शिविर का प्रत्येक सैनिक उसके सामने आये और वह स्त्री उस सैनिक को पहिचाने, जिसने उसके शिशु की छाती में भाला घुसेड़ दिया था । मुझे ज्ञात हुआ कि १२३ सैनिक घरों में घुसे थे । उन्हीं १२३ सैनिकों के भाग्य का निर्णय था, किन्तु उस स्त्री ने १७ सैनिकों के आनेपर एक बार अपने बच्चे को चूमा, हृदय से चिपटा लिया और अट्टारहवें सैनिक की कमर से छुरी निकाल कर स्वयं आत्म-हत्या कर ली ! पुण्य उसे रोक नहीं सका और वह खून की नदी में तड़पने लगी । देवी, उसने मेरे न्याय पर विश्वास नहीं किया । उसने मेरी राज्यसत्ता से बढ़कर अपने बच्चे को समझा !

तिष्य०—महाराज, माता का हृदय संसार के किसी वैभव से नहीं तुल्य सकता । वह सबसे बड़ा है ।

अशोक—क्रिंतु माता के हृदय में विशालता भी तो होती है !

तिष्य०—पहले वह अपने बच्चे के लिए होती है महाराज ! आप

अनुमान कर लीजिए कि इस युद्ध में जितने वीरों की मृत्यु हुई है, उनकी माताओं के हृदय की क्या दशा होगी !

अशोक—मैं देख रहा हूँ देवी ! आज एक बच्चे की माँ ने मेरे सारे साम्राज्य को तुच्छ सिद्ध कर दिया !

निष्य०—महाराज आर्यावर्त के सबसे बड़े वीर हैं ।

अशोक—देवी, आज विश्राम-शिविर में जाने पर ज्ञात हुआ कि एक लाख से अधिक सैनिक अभी तक युद्ध में मारे जा चुके हैं, जिनमें बहुत अधिक संख्या कलिग के सैनिकों की है । तीन लाख सैनिक घायल हुए हैं । उनकी माताओं के हृदय की क्या अवस्था होगी !

निष्य०—[आश्चर्य और दुःख में] महाराज, चार लाख वीर संग्राम की बलि हुए हैं !

अशोक—जब कलिग नरेश को ज्ञात हुआ कि चार लाख वीर इस संग्रामभूमि की बलि हुए हैं, तब उसने यह सन्धि-पत्र भेजा है । [सन्धि-पत्र खोलते हुए] आज पाटलिपुत्र की विजय हुई, किंतु देवी उस स्त्री की आत्म-हत्या ने मेरा ध्यान संग्राम में मरे हुए वीरों की माताओं की ओर आकर्षित कर लिया है और मेरी विजय में जैवे उल्लास के बदले अभिशाप तड़प रहा है ।

[बाहर कोलाहल होता है । “चारु” “चारु” “क्या हुआ”, “अभी प्राण शेष हैं”, “कहाँ चोट लगी है”, “यह कैसे हुआ” “शान्त, शान्त” की आवाज़ आती है ।]

अशोक—[चौंक कर] यह कैसा शब्द ? राजुक !

[राजुक का प्रवेश]

रा०—महाराज, चारुमित्रा का मृत शरीर बाहर है ।

अशोक—[पुनः चौंक कर] चारुमित्रा का मृत शरीर !

तिष्य०—ओह चारु—[सिर झुकाकर बैठ जाती है ।]

रा०—जी हाँ, उन्हे तलवार का गहरा घाव लगा है । आचार्य उपगुप्त उनके साथ हैं ।

अशोक—शीघ्र भीतर लाओ ।

[चारुमित्रा का शरीर लेकर दो प्रहरी आते हैं । साथ में उपगुप्त भी हैं ।]

अशोक—महाभिक्षु को अशोक का प्रणाम ! महात्मन्, यह क्या ! [प्रहरियोंसे] यह शरीर नीचे रख दो ! ओह, चारुमित्रा ! [प्रहरी शरीर रख देते हैं ।]

तिष्य०—ओह मेरी चारु, मेरी चारु !!

उ०—देवी शान्त हों । महाराज, यह चारुमित्रा की स्वामिभक्ति का प्रमाण है !

अशोक—स्वामिभक्ति ! कैसी स्वामिभक्ति ? अभी जीवित है चारु ?

उ०—महाराज, अभी जीवित तो है, पर वह अचेतावस्था में है ।

तिष्य०—भंते, क्या हुआ, क्या हुआ ?

उ०—देवी, शान्त हों । चारुमित्रा ने आज संसार के सामने यह घोषित कर दिया कि एक नारी में कितनी शक्ति है, कितनी क्षमता है !

अशोक—किस प्रकार भंते ?

उ०—मैंने सुना था कि आपने चारुमित्रा पर अविश्वास किया था !

अशोक—हाँ, वह कलिंग की अधिवासिनी थी । अविश्वास होना स्वाभाविक था ।

उ०—किन्तु महाराज उसने बाल्यावस्था से आपकी सेवा की थी और आज उस सेवा से उसने अपने कलिंग को अमर बना दिया ।

अशोक—मैं उत्सुक हूँ भन्ते, चारु के सम्बन्ध में सुनने के लिए ।

उ०—महाराज ! आर्यावर्त्ता जानता है कि आपने रक्त की नदी बहाकर कलिंग युद्ध में कितने वीरो को रण-क्षेत्र में सुला दिया है । आपने रक्त की नदी से कलिंग की भूमि को लाल बना दिया है । और अब तो आपकी विजय निश्चित है ।

अशोक—मैंने विजय प्राप्त कर ली महाभिधु, यह संधि-पत्र है ।

उ०—महाराज, इस संधि-पत्र से अधिक मूल्यवान चारु का बलिदान है ।

अशोक—[आश्चर्य से] बलिदान !

तिथ्य०—मेरी चारु ने अपना बलिदान कर दिया ?

उ०—हाँ, महारानी, महाराज के अविश्वास से उसे हार्दिक दुःख हुआ था । आज वह महाराज के बाहरी शिविर में महाराज से आज्ञा लेकर चली जाती और महानदी की लहरों में विश्राम करती, किंतु उसके पूव ही उसे विश्राम करने का अवसर मिल गया ।

अशोक—किस प्रकार ? शीघ्र बतलाइए ।

उ०—महाराज ! यदि चारुमित्रा के चरित्र-गान में कुछ विलंब लग जाय, तो आप धैर्य रखें । उसका चरित्र ही ऐसा है । आज चारुमित्रा आपके बाहरी शिविर में आपके लौटने की प्रतीक्षा कर रही थी, किन्तु संभवतः आपके लौटने में देर हुई ।

अशोक—हाँ, आज मैं शिविरो के निरीक्षण के लिए चला गया था । अभी तक मैं अपने बाहरी शिविर में शयन के लिए नहीं पहुँचा ।

उ०—महाराज, उस शिविर में आप पर आक्रमण करने के लिए कलिंग

के कुछ सैनिक छिपे हुए थे। वे संध्या से ही मगध-सैनिकों के वल्ल में शिविर में घूम रहे थे। चारुमित्रा को उनपर संदेह हुआ। उसने उनसे बातें कर यह जान लिया कि ये कलिंग के सिपाही हैं।

अशोक—[आश्चर्य से] फिर !

उ०—महाराज, देवी चारुमित्रा ने उन्हें धिक्कारते हुए कहा—कायरों, तुम लोग मेरे देश कलिंग के नाम को कलंकित करने वाले हो ! यदि महाराज अशोक को मारना है, तो युद्ध में तलवार लेकर क्यों नहीं जाते ? यहाँ चोरों की तरह घुस कर एक वीर पुरुष से छल करते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आती !

अशोक—चारुमित्रा, तुम धन्य हो ! तुम देवी हो !

उ०—महाराज ! उन सैनिकों ने चारुमित्रा को लालच दिया, कलिंग की विजय का स्वप्न दिखलाया, किन्तु चारुमित्रा ने कहा—मैं अपने स्वामी से विश्वासघात नहीं कर सकती। मैं देशभक्ति को जितना आदर देती हूँ, उतना ही स्वामिभक्ति को !

अशोक—चारु, तू अमर हो !

उ०—महाराज, चारु निश्चय ही अमर होगी। उसने उन सैनिकों को हट जाने के लिए ललकारा। जब वे नहीं हटे तो कक्ष में टाँगी हुई आपकी तलवार लेकर उसने उन सैनिकों पर आक्रमण कर दिया।

नित्य०—धन्य चारु, चारु सैनिक भी है !

उ०—हाँ, देवी, दो सैनिक तो घायल होकर भाग गये, लेकिन एक सैनिक की तलवार चारु के कंधे पर लगी और वह गिर पड़ी। उसी समय मैं पहुँचा, वह कायर वहाँ से भाग कर पास की झाड़ी में छिप गया। देवी चारु ने अचेत होने से पहले सारी कथा मुझे टूटे-फूटे शब्दों में सुनाई थी।

अशोक—धन्य है चारु, आज तूने अपने दश कलिंग को अमर कर दिया।

तित्य०—महाराज, मेरी चारु.....

अशोक—महारानी, अधीर मत हो। चारु ने जो कार्य किया है, वह नारी जाति के इतिहास में स्वर्णक्षरो से लिखा जायगा। और सुनो देवी, आज से अशोक ने.....अत्याचारी अशोक ने युद्ध को सदैव के लिए छोड़ दिया !
[तलवार भूमि पर फेंक देता है ।]

सब—महाराज अशोक की जय !

अशोक—महाभिक्षु, आज से मैं विहिंस किसी रूप में न करूँगा। और देखूँगा कि किसी मनुष्य का रक्त इस पृथ्वी पर न पड़े। प्रत्येक स्थान पर, सिंहासन पर, अंत पुर में, विहार में, मैं जनता की सेवा करूँगा। आज से मेरा महान् कर्तव्य होगा कि मैं सब जीवों की रक्षा का अधिक से अधिक प्रबंध करूँ।

उ०—देवनामप्रिय प्रियदर्शी महाराज अशोक का कल्याण हो !

अशोक०—मेरे आदेशों को शिलालेख के रूप में लिखवा कर समस्त आर्यावर्त में प्रचार कर दो कि अशोक आज से उनकी रक्षा करने वाला उनका बंधु है।

चारु०—[बेहोशी दूर होने पर] महाराज अशोक की जय !

तित्य०—ओह, चारु, चारु, मेरी चारु, तू अच्छी है ?

अशोक०—चारुमित्रा की जय ! चारु ?

चारु०—महाराज, क्षमा ! आपकी आज्ञा थी कि मैं मगध की ओर से तलवारों के साथ भैरवी नृत्य सीखूँ ! पूरी तरह नहीं सीख सकी, क्षमा हो !

अशोक—चारुमित्रा, तू पाटलिपुत्र की शोभा है, उसके गौरव की विभूति है !

चारु०—महाराज, आग के अंगारों पर नाचने का अवसर तो आपने

नहीं दिया, अब मैंने अंगारों पर अपनी देह रखने का अवसर आप से माँग लिया । [तिष्य से] क्षमा करें, देवी !

तिष्य०—ओह चारु, तू अच्छी हो जायगी ।

चारु०—नहीं देवी, [शिथिल स्वर में] महाराज अशोक की जय !

[आँखें बंद कर लेता है । अशोक अवाक् हो चारुमित्रा की ओर देखते रह जाते है ।]

—पटाक्षेप—

—

उत्सर्ग

[मार्च १९४२]

[डा० शेखर का अध्ययन-कक्ष । दीवारों पर स्त्री और पुरुष के अनेक रेखा-चित्र सजे हुए हैं । सामने खिड़की, जिसके आधे भाग पर एक नीला परदा पड़ा हुआ है; आधे भाग से आकाश और तारे दीख रहे हैं । एक कोने में टेबुल और कुर्सी । टेबुल पर कुछ पुस्तकें और मासिक पत्र हैं । दूसरे कोने में एक चौकोर तख्त, जिसपर स्वच्छ वस्त्र बिछा हुआ है । तख्त से हटकर डा० शेखर का एक 'एपराटस' रखा हुआ है जिसके निर्माण में वे अनेक वर्षों से यत्नशील हैं । 'एपराटस' में लाल और नीली रोशनी के बल्ब लगे हुए हैं । कमरे में दो छोटी आलमारियाँ हैं जिनमें पुस्तकें सजी हुई हैं, अधिकतर आत्म-विद्या से सम्बन्ध रखने वाली । आर्थर कोनन डायल और आलिवर लॉज के ग्रंथों का रैंक भी आलमारी पर रखा हुआ है । कमरे में स्वच्छता और सादगी । जगह-जगह अगर-बत्ती जल रही है जिनसे धुआँ उठकर समस्त वातावरण को सुगन्धित कर रहा है । कमरे के बीचोंबीच एक 'मेटलपीस', जिसपर दो चित्र रखे हुए हैं—एक मंजुल का और दूसरा छायादेवी का । 'मेटलपीस' के नीचे एक अँगोठी है जिसमें लाल अंगारे दहक रहे हैं । एक ओर खूंट पर नीला ओवरकोट टंगा हुआ है । उसके नीचे लकड़ी का एक 'पेडास्टल' है । एक 'बेसिन' में अँगरेज़ी के कुछ कटे हुए अक्षर रखे हैं । पीछे की ओर लगे हुए लाल बल्ब से वे अक्षर चमक सकते हैं । कमरे में एक क्लक टँगी हुई है जिसमें सात बजकर पंद्रह मिनट हुए हैं ।

जाड़े के दिन हैं । डा० शेखर इस समय भी बाहर जाने के वस्त्र पहने हैं । हल्के हरे रंग का सूट है । उनकी अवस्था लगभग ४० वर्ष की होगी । लेकिन कार्य करने से वे अधिक आयु के ज्ञात हो रहे हैं । मुख पर कार्यशीलता की रेखाएँ हैं । वे किसी समय सुंदर थे, यह उनके नेत्र और कपोल-गह्वर से ज्ञात होता है । अष्टभुजी शीशे का बेकमार्नी

चश्मा । बाल कुछ अस्त-व्यस्त । टाई की 'नाट' ढीली होकर एक ओर खिसक गई है । मुख पर गंभीरता । और अँगुली में अँगूठी । जैसे उनकी सारी सौंदर्यप्रियता सिमट कर अँगूठी में आ गई है और शरीर गंभीर और शुष्क-सा रह गया है । वे अत्यंत स्पष्ट और धीरे बोलते हैं ।

उनके समीप ही उनका असिरटेंट विनय खड़ा हुआ है । वह एक साधारण सूट पहने है । उसकी उम्र लगभग २५ वर्ष की होगी । वह अत्यंत सजीदे ढंग से बोलता है । कार्य में सावधान और व्यवहार में व्यवस्थित ।

डा० शेखर अपने 'एपराटस' के एक भाग को ठीक करने के अनंतर रूमाल से अपना मुख पोंछते हुए आगे बढ़ते हैं ।]

शे०—सब लोग इकट्ठे हो गये विनय ?

वि०—जी हाँ !

शे०—इस समय कितना बजा होगा ?

वि०—[क्लॉक की ओर देखकर] सात बजकर पंद्रह मिनट ।

शे०—[दुहराते हुए] सात बजकर पंद्रह मिनट । विनय, समय तो एक गति से चलता रहता है । नदी के बहाव की तरह । न उसमें घंटे हैं और न मिनट । एक गति है—एक प्रवाह । हमी लोगो ने उस समय को काट-काटकर टुकड़े कर दिये हैं । यह घंटा है—यह मिनट है । न कहीं घंटा है, न मिनट । क्या ? [प्रश्नसूचक दृष्टि]

वि०—जी ।

शे०—और इस अनंत समय में हमें लहर की तरह बढ़ना चाहिए । बिना किसी बंधन के—बिना किसी रोक के । लेकिन यह शरीर हमें बढ़ने नहीं देता । स्थूल है न ?

वि०—जी ।

शे०—और अगर हम लोग किसी तरह अपने स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर को अलग करना सीख लें तो विनय, जानते हो क्या होगा ? [ज़ोर देकर] बोलो, क्या होगा ?

वि०—मैं नहीं कह सकता ।

शे०—क्या होगा ? ये घड़ियाँ तोड़ डाली जायँगी—नष्ट कर दी जायँगी ! ये क्लॉक, ये टाइमपीस, ये पाकेटवाच, ये रिस्टवाच, ये बटनवाच । कहीं कुछ न रहेगा ।

वि०—जी ।

शे०—और हमारा सूक्ष्म शरीर समय से मिल जायगा । वैसा ही गतिशील, वैसा ही प्रवाहशील । जिस तरह रेडियो के संगीत की एक लहर लंदन से चलकर यहाँ मसूरी में उसी क्षण सुनाई पड़ जाती है उसी तरह यह मनुष्य एक लहर बनकर क्षणभर में लंदन पहुँच जायगा । लंदन, न्यूयार्क, टोकियो । सूक्ष्म शरीर से वह विश्वव्यापी हो जायगा । सर्वकालीन, सर्वत्र । समय को काटने-छाँटने की आवश्यकता नहीं रह जायगी ।

वि०—जी ।

शे०—इस स्थूल शरीर में सूक्ष्म शरीर है, इसका पता जानते हो कैसे लगता है ?

वि०—बतलाइए ।

शे०—इसका पता हमें हमारी साँस से लगता है । यह साँस ! देखो यह साँस ! [नाक के सामने हाथ ले जाते हैं ।]

वि०—जी ।

शे०—यह साँस कितने वर्षों से चल रही है ! सोते-जागते । रुकने का नाम ही नहीं लेती । क्यों विनय, तुम्हें साँस लेने में कभी थकावट मालूम हुई है ?

वि०--जी नहीं ।

शे०--कभी तुमने यह सोचा है कि इतने वर्षों से साँस ले रहे हैं, दो-एक दिन आराम कर फिर साँस लेना शुरू करेंगे ? एक ही काम करने से थकावट आती है न ? 'मानोटनी' । फिर एक ही तरह से साँस लेने में थकावट क्यों नहीं मालूम पड़ती ? शरीर के अन्य अवयवों की भाँति साँस लेने में भी थकावट होनी चाहिए !

वि०--इस स्थूल शरीर में सूक्ष्म शरीर है ।

शे०--हाँ, सूक्ष्म शरीर है--आकाश है ।

वि०--जी ।

शे०--वह आकाश हमारे शरीर के कण-कण में फैला है । शरीर से घिरे रहने के कारण उसे घटाकाश कह लो । तो जिस तरह आकाश की हवा कभी नहीं रुकती, हमारे शरीर की साँस भी नहीं थकती । जबतक कि उसके बहाव के रास्ते खराब नहीं हो जाते, वह बहती है । बहाव के रास्तों को कभी पुराना न होने दो, हजारों वर्षों तक साँस लो । योगियों का हाल पढ़ा है : नाडी-साधन से वे हजारों वर्षों तक जीते थे । उनकी साँस जंगल की हवा के समान स्वतंत्र बहती थी । हजारों वर्षों तक बहती रही और बहती रहेगी । देखो, यह 'एपराटस' । ['एपराटस' के पास जाकर उसकी एक नली छूकर] देखो, यह साँस लेने की नली है ।

वि०--[विनम्रता और मंकोच के स्वरों में] यह तो ठीक है लेकिन.....आप [रुकते हुए] बाहर जानेवाले थे ? सादे सात होने जा रहे हैं, सब लोग आपका रास्ता देख रहे होंगे !

शे०--[अस्थिर होकर] ओह ! मैं तो बिल्कुल ही भूल गया । यह समय हमेशा काँटे की तरह चुभता रहता है । यह सान बज गये, यह आठ

वज्र गये । विनय, मैं कोशिश कर रहा हूँ कि स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर को अलग कर सकूँ और फिर दोनों को जोड़ सकूँ ।

वि०—आप सब कुछ कर सकते हैं । आप संसार के बहुत बड़े 'साइंटिस्ट' हैं । लोग आपसे यही तो सीखना चाहते हैं ।

शे०—लेकिन मुझे आज फुर्सत नहीं है, विनय । मंजुल छ महीने बाद घर आई है । मेरी बेटी ! मेरे भीतर बैठा हुआ पिता का हृदय आज बेटी के पास रहना चाहता है । वह बेचारी छः महीनों के बाद मिली है । मेरी मंजुल ।

वि०—अब तो वे यहीं रहेगी । आप तो उनके साथ सारा समय व्यतीत करेंगे । लेकिन बीस रोज के बाद आपको कुछ फुर्सत मिली है । आपकी खोज के विषय में सुनने के लिए लोग उत्सुक हैं । आपका 'स्टडी सर्किल' उन्हीं पुराने प्रयोगों को कर रहा है । उसे आगे बढ़ने के लिए दो-तीन बातें बतला दीजिए, फिर जल्दी ही लौट आइयेगा ।

शे०—कितनी देर लगेगी ?

वि०—यही पंद्रह-बीस मिनट । आपकी खोज के विषय में जानने को लोग कितने उत्सुक हैं । यदि आज आप नहीं गये तो पंद्रह-बीस दिनों तक आपको फुर्सत नहीं मिलेगी ।

शे०—[सोचने हुए, मन्द स्वर में] हाँ, एक बार काम में लगने पर फिर तो मैं कहीं जा ही नहीं सकता । अब यह खोज, जो मैंने एक महीने में की है, बिल्कुल नई है !

वि०—कौन-सी ?

शे०—यही कि अपने 'एपराटस' से मैं मरे हुए व्यक्ति के सूक्ष्म शरीर को फिर एक आकार दे सकता हूँ । यह 'एपराटस' वर्षों की मेहनत में तैयार हुआ है ।

वि०—[आश्चर्य से] ओहः ! यह तो संसार की सबसे बड़ी खोज होगी ।

शे०—जो हो, मैंने मृत्यु के उस पार देखने की कोशिश की है । जीवन का आदर्श ही यही है कि जीवन के उस पार देखा जाय । मृत्यु तो सूक्ष्म जीवन का प्रवेश-द्वार है । मन शरीर से अलग होकर भी कार्य कर सकता है और शरीर के नष्ट होने पर भी वह गतिशील है । तुम्हें आश्चर्य होगा यदि मैं कहूँ कि मृत्यु में पीड़ा नहीं है । मृत्यु तो जीवन का एक मोड़ है । जिस प्रकार एक चौड़ा रास्ता जंगल में एक पगडंडी होकर छिप जाता है और हमें नहीं दीख पड़ता उसी प्रकार मृत्यु के बाद जीवन-पथ भी रहस्य के वन में प्रवेश कर जाता है । सूक्ष्म शरीर तो स्थूल शरीर का निखरा हुआ रूप है । जैसे सूर्यमंडल से दिन फैला हुआ है उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर से यह स्थूल शरीर है । यह सूक्ष्म शरीर हमसे वैसा ही जुड़ा है जैसे रात्रि के अंतिम प्रहर से दिन । आज का विज्ञान सिर्फ 'मैटर' की खोज करता है, 'स्फिरिट' की नहीं । मैंने 'स्फिरिट' की खोज की है ।

वि०—[आश्चर्य से] आपने बहुत बड़ा काम किया ।

शे०—मैं जब तक मृत्यु का पूरा रहस्य संसार को न बतला दूँगा तब तक आराम नहीं करूँगा ।

वि०—आप महापुरुष है । आप संसार का बहुत उपकार करेंगे ।

शे०—उपकार होगा—ऐसा मेरा भी विश्वास है । मेरी खोज एक दीप-स्तंभ होगी जो भटकती हुई आत्माओं की जीवन-नौका का पथ-प्रदर्शन करेगी ।

वि०—[सौम्य हँसी के साथ] अभी तो आप हम लोगो का पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं । तो आप अभी चलेंगे ? मैं 'स्टडी सर्किल' को क्या सूचना दूँ ?

शे०—[सोचते हुए] अच्छा, चल रहा हूँ। फिर न जाने कब अवकाश मिले ! लेकिन इस समय मैं केवल 'क्लेयरवायंस' की कुछ बातें ही बतला सकूँगा। समय मेरे पास कम है।

वि०—[नम्रता से] जैसी आपकी इच्छा।

शे०—[निश्चय के साथ] अच्छा, तो मैं फिर चलता हूँ। तुम जाकर उन लोगों से कह दो कि मैं आ रहा हूँ। और ड्राइवर से कहना कि मोटर लाये।

वि०—बहुत अच्छा। [प्रस्थान]

[डाक्टर शेखर कुछ देर तक अपना 'एपराटस' देखते हैं फिर टेबुल पर पड़े हुए कुछ कागज़ उठाकर भौहें सिकाड़े हुए पढ़ते हैं। निश्चयात्मक ढंग में सिर हिलाकर कोट पहनते हैं। ऑलिवरलाज की एक पुस्तक खोजकर निकालते हैं और पृष्ठ उलटते हुए पढ़ते हैं। फिर उस पुस्तक में कागज़ का निशान लगाकर मंजुल को पुकारते हैं।]

शे०—मंजुल !

[“आई, पिताजी” की आवाज़। मंजुल का प्रवेश। सोलहवर्षीया युवती। देखने में सरल और सुंदर। क्रीम रंग की साड़ी जिस पर नीला बार्डर। उससे उसका गौरवर्ण और भी निखर आया है। माथे में छोटी लाल बिंदी। चकित हरिणी की भैंति कमरे में प्रवेश करती है।]

शे०—मंजुल ! तू क्या काम कर रही थी ?

मं०—पिताजी, सितार पर नये तार चढ़ा रही थी। मैं तो समझती थी कि मेरे जाने के बाद आप सितार सम्हाल कर रखेंगे लेकिन आपने मेरी तरह मेरे सितार का भी भुला दिया।

शे०—वाह, तो क्या तेरा सितार तेरी तरह ही है ?

मं०—और नहीं तो क्या ! सितार पर नये तार चढ़ाकर आ रही हूँ—
देखिए, मेरी बोली में खुशी का राग है या नहीं ?

शे०—और अगर कोई तार टूट जाय तो ?

मं०—पिताजी, मेरा मन टूट जायगा । मैं बोल भी नहीं सकूँगी ।

शे०—ओहो, कविता भी करने लगी ।

मं०—मैं कविता कैसे कर सकती हूँ ? आजकल की कविता के लिए उच्छ्वास, वेदना, आँसू की आवश्यकता होती है, सो यह सब मेरे पास नहीं है । मैं तो खुश रहना जानती हूँ ।

शे०—अच्छी बात है । मेरी खोज खतम हो जाय फिर तेरे सितार और तेरी आवाज की तरंगों का कंपन निकाल कर मिलान करूँगा; एक कंपन से दूसरे कंपन को कहाँ तक सहायता मिलती है ।

मं०—आपकी खोज में हम दानों कहीं रेडियो न बन जायें ।

शे०—कोई बुरी बात तो होगी नहीं । तू यहाँ से चली जायगी तब भी मैं तेरी आवाज़ सुन सकूँगा ।

मं०—[भारी आवाज़] आप तो यही चाहते हैं कि मैं यहाँ से चली जाऊँ तो अच्छा है ।

शे०[मनाते हुए स्वर में] वाह, यह क्या कहती है ? तेरे जाने के बाद इन छ महीनों में मेरी क्या हालत रही, यह मैं ही जानता हूँ । प्यारी बेटी, जैसे मेरा सुख अपने साथ ही ले गई । काम से लौटने पर जब तेरी याद आती थी तो मालूम होता था जैसे किसी ने मेरे घर से सारी हवा खींच ली है और मेरा दम घुट रहा है । लाचार होकर तेरी याद भूलने के लिए फिर काम में लग जाना पड़ता था ।

मं०—तो इस बहाने आपका काफी काम हो गया ।

शे०—[बेबसी के स्वर में] हाँ, हो तो गया पर मेरी बेटी मंजुल के

बिना तो मैं जैसे खुद एक एपराटस बन गया। सच कहता हूँ बेटी, तेरे बिना मुझे अपनी जिंदगी भी अच्छी नहीं लगती।

मं०--तो अब तो आप मुझे कहीं नहीं भेजेंगे ?

शे०--कहीं नहीं। तू तो खुद अपनी माँ की सहायता के लिए नौकरों को साथ लेकर पुरी चली गई, नहीं तो क्या मैं तुझे जाने देता ? तेरी इच्छा देखकर मैं चुप हो गया, नहीं तो क्या मैं अपनी बेटी को कहीं जाने देता ?

मं०--तो आप अभी कहाँ जा रहे हैं ?

शे०--मैं थोड़ी देर के लिए बाहर जा रहा हूँ। अभी आ जाऊँगा !
[वान्मल्य से] मंजुल, अभी आ जाऊँगा।

मं०--[मुँह बनाकर दुलार के स्वर में] पिताजी, मैं भी साथ चलूँगी।

शे०--साथ चलेगी ? अच्छा, चल। [सोचकर] लेकिन 'नहीं, तू मत चल।

मं०--छ महीने बाद आई हूँ। फिर भी साथ न चल।

शे०--मैं तुझे अपने साथ ज़रूर ले चलता। लेकिन मंजुल, मैं 'स्टडी सर्किल' में जा रहा हूँ।

मं०--कैसा स्टडी सर्किल ?

शे०--मैंने जो खोजें की हैं उनके भिन्न-भिन्न रूपों पर काम करने के लिए मेरे कुछ विद्यार्थी हैं। उन्हें आगे की बातें बतलानी हैं। मेरा असिस्टेंट ख़बर देने गया है कि मैं आ रहा हूँ। तब तो जाना ही पड़ेगा !

मं०--मेरे साथ जाने से क्या आपका जाना रुक जायगा ?

शे०--[समझाते हुए] रुक तो नहीं जायगा। लेकिन देख, यह मेरा 'एपराटस'। इसे मैंने वर्षों की मेहनत से तैयार किया है। अगर इसमें कुछ गड़बड़ हो जाय तो मंजुल, मेरी सारी मेहनत ख़राब हो जायगी। यह मेरे सारे जीवन की तपस्या है। मैं इसका एक कार्क भी इधर से उधर होना नहीं

देख सकता। तू यहीं रह। मेरे 'एपराटस' के पास। मैं खुद इससे अलग होना नहीं चाहता। कहीं तेरी पूसी उछल-कूदकर कुछ तोड़-फोड़ दे तो मैं कर्हा का न रहूँगा। मंजुल, मेरी सारी मेहनत बेकार जायगी।

मं०—[बुरा मानकर] आप मेरी पूसी को गाली क्यों देते हैं? वह ऐसी शैतान नहीं कि आपका 'एपराटस' तोड़ दे। वह भी तो एक वैज्ञानिक है। खोज में लगी रहती है—दूध दही जैसी पवित्र वस्तुओं की। 'एपराटस' के पास जाने से उसे अपनी चीज़ तो मिलेगी नहीं।

शे०—धन्य है तेरी पूसी! लेकिन मेरा 'एपराटस'.....

मं०—[बीच ही में] आपका 'एपराटस'! इससे क्या होता है?

शे०—मंजुल, इस 'एपराटस' से मैं क्या नहीं कर सकता? इसके द्वारा मैं मरे हुए आदमी के सूक्ष्म शरीर को एक आकार दे सकता हूँ।

मं०—[कुछ शंकित होकर] मरे हुए आदमी!

शे०—हाँ, मरे हुए आदमी से बातें कर सकता हूँ।

मं०—बातें कर सकते हैं?

शे०—हाँ, यह काम संसार के किसी वैज्ञानिक ने नहीं किया! मेरे हाथों यह पूरा होना चाहता है! मैंने मनुष्य की मृत्यु का रहस्य खोज लिया है! मरने के बाद यह बोलनेवाली चीज़ क्या हो जाती है!

मं०—मैं छः महीने बाहर रही। मुझे क्या पता था कि पिताजी ने संसार को ही बदल दिया है। अबकी बार छः महीने बाहर रहूँ तो आप शायद किसी को मरने भी न दें।

शे०—लेकिन मरने में क्या बुराई है? मैंने तो यह सिद्ध कर दिया है कि जो मर गये हैं वे वास्तव में मरे हुए नहीं हैं।

मं०—[अधिकारपूर्वक] तब तो मैं भी यही सिद्ध करूँगी कि जो जी रहे हैं, वे वास्तव में नहीं जी रहे हैं।

शे०--शैतान लड़की ! तू हँसी समझती है ! लेकिन यह तय बात है कि मृत्यु का रहस्य खोलने के बाद मृत्यु का भय जाता रहेगा । मृत्यु तो वैसी ही है जैसे मैं अपना कोट उतार कर अलग रख देता हूँ । और तब हमारा वास्तविक मनुष्य शरीर की सीढ़ी से उतर कर सच्चे संसार में प्रवेश करता है । इसमें जानती है क्या होगा ?

म०--[कौतूहल से] क्या होगा ?

शे०--जितने रोनेवाले हैं उन्हें सुख और संतोष मिलेगा ।

म०--तब तो सुख और संतोष पाने के लिए रोना जरूरी है ।

शे०--[अधिकार के स्वर में] मैं तुझसे बात नहीं करूँगा, मंजुल ! तू बहुत नटखट हो गयी है ।

मं०--अच्छा पिता जी, अब मैं बहुत गंभीर बन जाऊँगी । अब नहीं हँसूंगी ।

शे०--[मौम्य भाव में] हँसने में तुझे कौन रोकता है ? मैं गद्दी तो सिद्ध करना चाहता हूँ कि यह जीवन सदैव हरा-भरा है । सुंदर है, मधुर है जैसे चोंद की हँसी, फूल की सुगंध, पक्षी का कलरव । नदी की लहर जो हमेशा आगे बढ़ना जानती है । फेलती है, तो जैसे पलक खुल रही है ! और वह पल भर में संसार का तट छू लेती है ।

मं०--ठीक है पिताजी, लेकिन फिर संसार के लोग रोते क्यों हैं ?

शे०--मूर्ख हैं वे । मरने का अर्थ नहीं जानते ! मरने के बाद मनुष्य स्वतंत्र हो जाता है । वह अच्छे कार्य अच्छे ढंग से कर सकता है ।

मं०--सचमुच ?

शे०--मैंने यंत्रोक्ती सहायता से मरे हुए लोगों से बातें की हैं । वे लोग मेरे पास आये हैं । इसी घर में--इसी जगह !

म०--आपका डर नहीं लगा ?

शे०—मैं मंजुल तो हूँ नहीं जो डर जाऊँ ?

म०—लेकिन पिताजी, मरे हुए लोगों से बातें करने में कैसा लगता है ?

शे०—बहुत अच्छा ! जैसा तुझसे बातें करने में लगता है !

म०—वाह, तब तो मेरे मरने और जीने में अंतर ही नहीं रह गया !

शे०—अंतर क्या है, शरीर क रेखा भिड़ जाय तो यह संसार और वह संसार एक ही है ! शरीर तो जैसे एक भीगा कपड़ा है जो आत्मा से लिपट गया है । और अवसर मिलते ही आत्मा उस शरीर को फेंककर अपने सच्चे तेज में आ जाती है । या यों समझ लो कि एक शैतान बालक की तरह आत्मा शरीर के दरवाजे को खोलकर बाहर निकल भागती है । इसीको मरना कहते हैं ।

म०—मैं तो मरने से बहुत डरती हूँ । मरते समय जी न जाने कैसा होता होगा !

शे०—बहुत अच्छा लगता है । जीव की सारी चिताएँ छूट जाती हैं । मालूम होता होगा जैसे किसी पानी भरने वाली ने घर पहुँच कर अपने सिर का घड़ा उतार कर नीचे धर दिया है । या जैसे पुजारी मंदिर में पहुँच गया है । तभी तो इन आत्माओं से बात करने में अच्छा लगता है । हाँ, जो आत्महत्या करके मरता है, वह अपनी गति में पिछड़ जाता है और वह अपने सूक्ष्म संसार में एक पत्थर की तरह गिरता है । मैंने सूक्ष्म शरीरों से बात करके यह जान लिया है ।

म०—मैं तो मरे हुए आदमी से बातें भी न करूँ । जाने कैसे होते होंगे वे लोग ! हवा की तरह—धुआँ की तरह !

शे०—बहुत कुछ इसी तरह ! लेकिन अपने एपराइट्स से मैंने उन्हें ऐसा रूप दिया है कि कोई पहिचान ही नहीं सकता कि वे मरे हुए हैं या

जिन्दा है। ऐसा मालूम होता है कि वे हमारे प्रतिदिन के मिलने वालों में से ही है।

मं०—[आश्चर्य से] अच्छा, देखने में कुछ अंतर ही नहीं मालूम होता ! यह कैसे होता है ?

शे०—यही तो मेरी खोज है !

मं०—ओह, बड़ी विचित्र खोज है ! आपने मेरी उत्सुकता और बढ़ा दी है ! अच्छा, आप अपने स्टडी सकिंग से.....

शे०—[बात काटकर] ओह, मैं तो जाने की बात बिलकुल ही भूल गया ! तूने अच्छी याद दिलाई ! सब लोग मेरा रास्ता देख रहे होंगे !

मं०—तो फिर आप जल्दी लौट आयेंगे ?

शे०—हाँ, यही २०-२५ मिनट में। मोटर में क्या देर लगती है ! दस मिनट आने-जाने के समझ लो और पंद्रह मिनट बात करने के।

मं०—जल्दी ही आ जाइएगा !

शे०—अच्छी बात है। तो फिर मैं जाता हूँ। तुम एपराटस देखती रहना।

[भंजुल स्वीकारात्मक सिर हिलाती है। डा० शेखर जाते हैं।]

मं०—[पुकार कर] पिताजी ?

शे०—[लौटते हुए] क्या है ?

मं०—[हँसते हुए] आपने सूट तो पहन रक्खा है। लेकिन मोज़े तो पहने ही नहीं।

शे०—[लज्जित स्वर में अपना पैर कुछ ऊपर उठाते हुए] अरे, मैं तो भूल ही गया ! सब बातें भूल जाता हूँ। खैर, यो ही चला जाऊँगा।

[सोचकर]..... अच्छा, लाओ पहिन लूँ।

मं०—आपने कहाँ रख दिये हैं ?

शे०—देख लो, यहीं कहीं होंगे मेज़ या कुर्सी पर।

मं०—मेज़ या कुर्सी पर। घर में बहुत सी खूटियाँ तो हैं। या फिर वार्डरोब में रख दिया कीजिए।

शे०—अब रख दिया कहूँगा। अभी तो यहीं देख लो।

मं०—देखती हूँ। [मंजुल कुर्सी के गद्दे हटाकर और टेबुल के कागज समेट कर देखती है।]

शे०—जाने कहाँ रख दिये है ! [चारों ओर दृष्टि फेंकते हैं। कभी अपना सिर खुजलाते हैं। कभी कमर पर हाथ रग्वते हैं। यकायक चौंककर] अरे, ये तो मेरे कोट के जेब में है। कमर पर हाथ रखा तो जेब में कुछ मालूम हुआ ! [निकालते हुए] ये हैं मोज़े [फटे हुए मोजे निकालते हैं।]

मं०—वाह, कितनी अच्छी जगह है मोज़े रखने की। आपका कोट तो एक चलता फिरता वार्डरोब है !

शे०—भूल जाता हूँ मंजुल। कामके ध्यान में मैं अपने आपको भूल गया हूँ।

मं०—पिताजी, मैंने एक पुस्तक में पढ़ा था कि एक वैज्ञानिक महोदय ने कोट के ऊपर कमीज़ पहन लिया था।

शे०—[अपनी ओर देखते हुए] मैंने तो नहीं पहना ? [स्वस्थ होकर] नहीं, मेरा कोट ठीक है। [कोट के बटन खोलकर] और कोट के नीचे यह कमीज़ है।

मं०—[हँसती हुई] नहीं, आपका कोट-कमीज़ तो अपनी जगह पर है। केकिन लाइए मैं आपको मोज़े पहिना दूँ। कही आप भूल से इन्हें पैर के बजाय हाथों में न पहन लें।

शे०—[भौंहें कमते हुए] तू मुझे चिढ़ाती है, शैतान लड़की ? जा,

में पहन लेंगा । [डा० शेखर जूते के ऊपर मोझे पहनने लगते हैं ।]

मं०—[हँसी रोक कर] पिता जी, मोजे की रगड़ से कहीं जूता फट न जाय ।

शे० - [जूते के ऊपर से मोजा खींचते हुए तथा भूल स्वीकार करते हुए] ओह, मंजुल ! मेरे साथ तेरा रहना बहुत जरूरी है । [जूता उतार कर मोजा पहनते हैं । फिर थोड़ी देर जूते की ओर देखते हैं । जूतों को उठा कर बदलते हैं, कि कहीं उलटे तो नहीं पहन रहे हैं । फिर सावधानी से पहन कर जाते हैं ।]

शे०—[जाने हुए] मंजुल, थोड़ी देर में आता हूँ । [प्रस्थान]

मं०—[डा० शेखर के जाने की दिशा में देखती हुई] संसार के विद्वान संसार के सब से सरल आदमी होते हैं । [लौटती है । पुकार कर] सुधीर !

[सुधीर नै कर का प्रवेश ।]

सु०—सरकार !

मं०—एक गिलास पानी ।

सु०—अच्छा सरकार, मीठा ले आई !

मं०—नहीं, सिर्फ पानी ।

सु०—बहुत अच्छा सरकार ! [जाता है ।]

मं०—[यहाँ वहाँ देखती हुई 'एपराटस' के पाम जाती है ।] यह है, एपराटस ! जाने कैसा कैसा है ! [हाथ से ग्लास ट्यूब्स छूती है ।]

[सुधीर पानी लेकर आता है । मंजुल पानी पीती है]

मं०—[रुमाल से मुँह पोंछती हुई] तू जानता है सुधीर, यह ['एपराटस' की ओर संकेत करती है] क्या है !

मु०—[उत्साह से] सरकार ई ईपाराटुअस है । एहि मां तो सरकार अस करतब किहे है कि भगवानों नाही कर सकत । [गर्व से] ई बात है ! आप तो छै महीना मां आई हन । एहि का तमासा आप अबहिन जानत नाहो । येहि का तमासा तो सरकार हम देखिन है । [गर्व की मुद्रा]

मं०—तू जानता है, यह कैसे काम करत है ?

मु०—सरकार, चालू होत बखत तो यहि क देखे ते डिर लागत है । कर घुमाय देई त बिजुरी अस चमचमाय उठत है । ए करे जराये मां माचिस क जहरत नाहीं पड़त । ओ ऊ बडका लोटा अस [संकेत करता है] जो बना है, ओहि मा लाल पानी पहले तो सनमनात है, ओहि के बाद खदबदाय के ऊपर चढ़ जात है । ओ जादू अम बलकन लागत है । फुन खाल पाय के कबट्टे ई कोने मा कबट्टे ऊ कोने मा बिलाय जात है ।

मं०—इसमे होता क्या है ?

मु०—[हाथ उठाकर कान पकड़ने हुए] अब ई तौ सरकार हम कहि नाहि सकत । बड़े सरकार आप आँखी मूँद के वईठ जात है ओ कुछ कहै लागत है । हम ते कहि देत है—सुधीर, हियन ते तुम जाओ ।

मं०—सुधीर, पिताजी कहते हैं कि आदमी मर के भी नहीं मरता ।

मु०—अब सरकार ई तौ हम जानत नाहो । हौ, मुदा सरकार जब ते बड़े सरकार ई खटोला अस ईपाराटुअस बनाइन है तब ते ओही बात ऊ निकाल लिहे होई । सरकार, बड़े सरकार माँ तो विद्या अस समाय गई हैं जईसे स्याहीसोख माँ सियाही ।

मं०—[हँसकर] जा तू कुछ नही जानता ।

[मजुल 'एपराटस' के भागों को देखती है । एक म्विच दबाने से लाल बल्व जलता है, उसके साथ ही हरा बल्व भी जल उठता है । लाल बल्व तो थोड़ी देर बाद बुझ जाता है, हरा जलता रहता है ।]

मं०—[अन्यमनस्क होकर] कुछ समय में ही नहीं आता । पिताजी से पूछूँगी । ['एपराटस' के पास से हटकर] जा, सुधीर ज़रा मेरा सितार ल आ । पिताजी के आने तक उसी को बजाऊँ ।

सु०—सरकार, ऊं ठुनठुन करे वाला ?

मं०—[हेसकर] हाँ रे वही । [सुधीर जाता है ।] मेहनती है पर बेवकूफ़ । पिताजी के पास ऐसे आदमियों की गुज़र अच्छी हो जाती है । [सुधीर सितार ले के आता है ।]

सु०—सरकार, ई बिजुरी क तार तो न होय !

मं०—बिजली का तार ! बेवकूफ़ । जा अंदर बैठ । सब बातों में इसे बिजली सूझती है । [सुधीर चला जाता है ।]

[मंजुल कमरे के बीचोबीच आकर सितार ठीक करती है । फिर तख्त पर बैठकर थोड़ी देर बजाती है । दरवाजे पर खटखट की आवाज़ होती है ।]

मं०—[सितार बजाना बंदकर] कौन है ?

बाहर से शब्द—मैं हूँ छायादेवी ।

मं०—[प्रसन्नता से उठकर सितार कोने में रखते हुए] ओह, आई ! आ जाइए, दरवाज़ा खुला हुआ है ।

[एक ३५ वर्षीया स्त्री का प्रवेश । गौरवर्ण । सफ़ेद साड़ी पहने हुए है । मुखमुद्रा गंभीर ।]

मं०—नमस्ते । आइये, बैठिए ।

[छायादेवी नमस्कार कर बैठती हैं । पास की कुर्सी पर मंजुल भी बैठ जाती है ।]

छा०—तुम सितार बजा रही थी । मुझे संगीत बहुत अच्छा लगता है । मुनकर यहाँ चली आई ।

मं०—[संकुचित होकर] अच्छा, मैं इतना अच्छा बजा लेती हूँ ।

छा०—फिर मैंने सोचा, चलो तुम्हें देख आऊँ ! मालूम हुआ, तुम आ गई हो ।

मं०—हाँ, कल रात ही आई हूँ । बाबूजी ने लिखा था कि तुम्हें देखने की इच्छा है । चली आई । बाबूजी मुझे बहुत प्यार करते हैं ।

छा०—मैं जानती हूँ ।

मं०—[उत्सुकता से] आप कैसे जानती है ?

छा०—यो ही । तुम तो छः महीने वाद आई हो ।

मं०—हाँ, ठीक छः महीने वाद ।

छा०—तुम्हारी माँ तो अच्छी तरह से हैं ?

मं०—हाँ, अच्छी तरह है । बीच में उनकी तबीयत कुछ खराब हो गई थी । पुरी के सभी बड़े-बड़े वैद्यों और डाक्टरों को बुलाना पड़ा । लेकिन सभी बातों की व्यवस्था पिताजी ने कर दी थी । ओह, पिताजी हम लोगों को थोड़ा भी कष्ट नहीं होने देते । वे तो जैसे हम लोगों की इच्छा पहले ही जान लेते हैं । कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती ।

छा०—तुम्हारी माताजी नहीं आई ?

मं०—वे भी आनेवाली थी । लेकिन पुरी की आवहवा से उन्हें बड़ा फ़ायदा हुआ । वे अब पंद्रह-बीस दिनोंमें आ जायँगी । उनके पास पिताजी ने चार नौकरों की व्यवस्था कर दी है । कोई कष्ट नहीं है । हाँ, आजकल आप यहाँ है ?

छा०—मुझे इस जगह से कुछ मोह-सा हो गया है । कुछ दिनों के लिए बाहर जाती भी हूँ तो फिर लौटने की तबीयत हो आती है ।

मं०—छः महीने पहले जब मैं आपसे मिली थी तो आप कह रही थी कि हृषीकेश जाऊँगी । फिर आप गई थी ?

छा०—मैं तो हो भी आई। चार-पाँच दिन हुए लौटी हूँ। बहिन का इम्तहान है न? बेचारी बड़ी चिन्ता में है। उसकी वजह से जल्दी ही लौटना पड़ा।

म०—क्या करूँ, मेरी भी इच्छा है कि मैं हृषीकेश देख आऊँ। पिताजी कहते थे बड़ी अच्छी जगह है। वे तो कई बार वहाँ हो आये। कैसी जगह है?

छा०—बहुत अच्छी। गंगाजी की पवित्र धारा बहती है जैसे स्वर्ग पानी बनकर बह रहा है। जब मैं उसमें स्नान करती हूँ तो मालूम होता है, मेरे सारे शरीर में गंगाजल ही बह रहा है। और प्रकृति के दृश्य तो ऐसे हैं जैसे ईश्वर ने समुद्र की हरी लहरों को तरतीब के साथ गूँथकर सजा दिया है। तुम देखो तो यहाँ आना भूल जाओ। वहाँ जाने की तुम्हारी भी इच्छा है?

म०—हाँ, बहुत।

छा०—तो अभी तो नहीं, चार महीने बाद तुम्हें ले चलेंगी। मेरे साथ चलना।

म०—जहर। पिताजी भी चलेंगे।

छा०—वे कैसे चल सकते हैं? उन्हें अभी बहुत काम करना है। पिछले दो बरसों से तो वे कही गये ही नहीं।

म०—अच्छा; तब मैं ही आपके साथ चलेंगी।

छा०—जहर।

म०—बहुत अच्छा हुआ। आपसे अकस्मात् मिलना हो गया। मैं तो आपके यहाँ आनेवाली थी।

छा०—कोई बात नहीं। मैं ही चली आई। तुम्हारे कमरे का हरा चल्ब दूर से ही दीख रहा था। मालूम होता था जैसे शुक्र तारा चमक रहा

है। मैं यहाँ से जा रही थी। सोचा, शायद डाक्टर साहब हों। लेकिन तुम मिल गई। शायद डाक्टर साहब नहीं हैं।

म०—नहीं, वे अपने 'स्टडी मर्किल' में गये हैं। बस, अब आनेवाले ही होंगे। पिताजी ने न जाने कितने तरह के 'एपराटस' बनाये हैं। किसी में लाल उजेला होता है, किसी में हरा। मैं तो छ महीने बाद आई हूँ। मुझे कुछ मालूम ही नहीं। सैकड़ों नई बातें खोजकर निकाली हैं। कहते हैं, मरने के बाद आदमी मरता ही नहीं। मैं तो हैरत में हूँ।

छा०—ठीक कहते हैं।

मं०—आप भी यह मानती हैं ?

छा०—मानना कैसा। यह तो सही है। हमारे कृषि-मुनि तो इसी साधना में सैकड़ों ग्रंथ लिख गये हैं।

म०—कहते हैं, मरने में कोई तकलीफ़ ही नहीं होती।

छा०—कपड़े बदलने में क्या तकलीफ़ होती है !

म०—आप भी पिताजी जैसी बातें कहती हैं। हमेशा मिलती रहती है। रोज़ रोज़ की बातों का कुछ अमर तो होता ही है।

छा०—जो ममत्रो।

मं०—जाने दीजिए इन मरने जीने की बातों का। आप कुछ जलपान करेंगी ?

छा०—नहीं, कुछ आवश्यकता नहीं है। अच्छा, तो अब मैं जाऊँगी।

मं०—वाह, अभी आई और अभी चली ! पिताजी मे तो मिली ही नहीं।

छा०—फिर कभी मिल लूँगी। उनसे कभी कभी तो मिलना हो ही जाता है।

मं०—कुछ देर और ठहरिए ना।

छा०—नहीं, अब और नहीं ठहर सकूँगी। बस तुम्हे देख लिया।
तुमसे मिलना भी चाहती थी। फिर कभी आऊँगी।

मं०—अच्छी बात है। कभी कभी आ जाया कीजिए।

छा०—हाँ, अवश्य। अच्छा, नमस्ते।

[छायादेवी नमस्कार करके जाती है। मंजुल दरवाज़े तक
पहुँचा कर लौटती है।]

मं०—[स्वगत] छायादेवी! पिताजी के बहुत निकट आकर भी
बहुत दूर! [सितार को उठाकर] अब नहीं बजाऊँगी। [पुकारती है]
सुधीर!

[सुधीर का प्रवेश]

मं०—सुधीर, ले जा, अब सितार नहीं बजाऊँगी। देख, सम्हालकर
रखना!

सु०—सरकार, सब ते अच्छा तो हरमुनियों होत है। उठाय के बकस
में रख लेय तो मालूम न होय कि ई बाजा है और सितार तो कंधे पे सींग
अस उठा रहत है।

मं०—[कड़े स्वर में] जा, शोर मत कर।

[शीघ्रता से डा० शेखर का प्रवेश। कोट कंधे पर और अस्तव्यसन
वेश-भूषा। सुधीर चला जाता है।]

शे०—[आते ही] मंजुल, मैं जल्दी आ गया। मेरा मन ही आज
नहीं लगा। 'स्टडी सर्किल' में कुछ बोलकर चला आया। बस दो-चार बातें
ही कहीं। ज्यादा नहीं कह सका। तू जो यहाँ बैठी थी।

मं०—कोट पहिने का समय भी नहीं मिला!

शे०—[कोट की ओर देखकर] हाँ, कोट उतारकर प्रयोग बतला
रहा था। चलते समय यों ही उठाकर रख लिया। ['एंपराटस' की ओर

देखकर] अरे यह बत्त्व कैसे जल गया ! क्या तू 'एपराटस' देख रही थी ?
[जाकर बत्त्व 'आफ़' करते हैं ।]

मं०—हाँ, यो ही देख रही थी । मैं तो कुछ जानती भी नहीं ।

शे०—अच्छा, मेरे जाने के बाद कोई आया तो नहीं था ।

मं०—आई थीं, छायादेवी जी !

शे०—[आश्चर्य से] छायादेवी !

मं०—हाँ, छायादेवी जी, मेरा सितार मुनके आ गई थी । छः महीनों से मुझे देखा नहीं था । इसीलिए चली आई थीं । मैंने उनसे आपके आने तक रुकने के लिए कहा था लेकिन वे चली ही गई !

शे०—तुम सितार...सितार बजा रही थी ?

मं०—हाँ, क्या करती बैठी बैठी । लेकिन आपको आश्चर्य क्यों हो रहा है !

शे०—मंजुल...मंजुल !

मं०—कहिए पिताजी !

शे०—छायादेवी...छायादेवी तो दो महीने पहले मर गई ।

मं०—[आश्चर्य-विह्वल] मर...गई ?

शे०—हाँ, तुम बाहर थी । तुम्हें क्या पता ! दो महीने पहले उन्हें टाइफ़ायड हुआ । उसी में उनकी मृत्यु हो गई !

मं०—[दुःख और आश्चर्य से] मृत्यु हो गई !!

शे०—हाँ, बेचारी छायादेवी !

मं०—तो फिर वे यहाँ कैसे आ सकती हैं ?

शे०—और कोई तो नहीं आया ?

मं०—क्या मैं छायादेवी को पहचानती नहीं । मेंटलपीस पर उनका चित्र सैकड़ों बार देखा है ! मिलना भी बहुत बार हुआ है ।

शे०—[सोचने हुए धीरे-धीरे] छा...या दे...वी...!

मं०—लेकिन मरने के बाद वे कैसे यहाँ आ गई ?

शे०—['एपराट्स' की ओर सकेत करते हुए] इसी 'एपराट्स' के सहारे । यह जो दृग बन्व है, यह प्रेतात्माओं को अपनी आर खीचता है । इसी से खिचकर छायादेवी का मृदुम शरीर चला आया और मेरे 'एपराट्स' से उन्हें मनुष्य का आकार मिल गया । फिर प्रेतात्माओं को संगीत अच्छा लगता है । तुम्हारे सितार को सुनकर वे सीधे कमरे में चली आई ।

मं०—[घबड़ाकर] तो क्या मैंने प्रेतात्मा मे बातें की ? छाया-देवी से नहीं ?

शे०—छायादेवी के प्रेतात्मा से ।

मं०—[घबड़ाकर सोचती हुई] ओह, तब तो मैं भी मरी ।

शे०—[सतोष देते हुए] बेटी, कैसी बातें करती है ! तू कैसे मर सकती है ?

मं०—[सोचते हुए] छायादेवी के प्रेतात्मा ने कहा था कि चार महीने बाद वे मुझे लेकर हृषीकेश जायेंगी । तब तो मेरी मृत्यु निश्चय ही चार महीने बाद हो जायगी ! पिताजी, मैं भी मर जाऊँगी । [गला भर आता है ।]

शे०—[मंजुल को हाथ का सहारा देते हुए] बेटी, तू नहीं मर सकती ।

मं०—[शिथिल होकर] पिताजी, मैं भी...मर...जाऊँगी !!

[अचेत हो जाती है ।]

शे०—[दुःख के स्वर में] ओह, मंजुल । मंजुल !!

[अचेत मंजुल को सम्हालकर आर्मचेयर पर लिटाते हैं ।]

ओह, यह क्या हो रहा है। यह मेरी खोज का दुःखद परिणाम ही है !
मंजुल...मेरी मंजुल ! अब क्या हो !

[अत्यंत अव्यवस्थित होकर सुधीर को पुकारते हैं ।]

शे०—सुधीर ! [सुधीर का प्रवेश] तू कहाँ था ।

सु०—सरकार, भीतरे रहे । बीबीजी हुकुम दीन रहें ! [मंजुल की ओर देखकर] बीबीजी अबहिन ते सोय गई !

शे०—विनय कहाँ है ?

सु०—सरकार, बाहर आपन कमरा मॉ होइहैं ।

शे०—उन्हे इसी वक्तु अंदर भेजो ।

सु०—अच्छा सरकार [प्रस्थान]

शे०—मंजुल, बेहोश होगई । [सोचते हुए] अब उसका सारा जीवन इसी तरह रोते हुए बीतेगा !.....और क्या वह सचमुच चार महीने बाद न रहेगी ! [सोचते हुए सिर पकड़कर]. ओह मेरी मंजुल ! मेरे कारण तुझे इतना कष्ट हो ! तू चार महीने बाद.....सिर्फ चार महीने बाद ! फिर मैं अपने आदर्श की रक्षा कैसे कर सकूँगा ! मेरी बेटी मंजुल !...छाया...तू क्यों आई ! तूने क्यों मंजुल से बतचीत की । अच्छा, मैं अभी देखूँगा । . [ओलिवर लॉज की पुस्तक निकालकर शीघ्रता में पृष्ठ उलटाने हुए रुककर पढ़ते हैं]—दि स्प्रिट मस्ट बी काल्ड इन व्हेन एनीथिंग कनेक्टेड विद् इट् कम्स टु पास ।

[विनय का शाघ्रता से प्रवेश]

वि०—आपने मुझे बुलाया था ?

शे०—हाँ, इसी समय । मैं 'स्प्रिट कान्टैक्ट' करूँगा । 'एपराटस' का फ़ेस सदरली डाइरेक्शन में करो और मेरे खड़े होने का पैडास्टल ईस्टर्न

डाइरेक्शन में । कमरे का टेम्परेचर साठ डिग्री फ़ैरेनहाइट हो । मेरा नीला ओवरकोट मेरे पास रखो !

वि०—बहुत अच्छा ।

शे०—सी. एच्. एच्. ए. वाई. ए. के कटे हुए अक्षर बल्ब के सामने लगा दो ।

वि०—बहुत अच्छा ।

शे०—कमरे में सुगंधि की बत्तियाँ और लगा दो और एपराटस के इंडिकेटर के सामने फ़ूलदान रख दो ।

वि०—बहुत अच्छा ।

शे०—अपना काम करो ।

[विनय क्रमशः एपराटस और अन्य वस्तुओं को ठीक करता है और डा० शेखर की कही हुई चीज़ों को व्यवस्थित ढंग में मजाता है । शेखर इस बीच में उसी पुस्तक को पढ़ने में लीन हैं ।]

शे०—एस और सानइस के कानटैक्ट प्वाइंट्स अत्यंत पास हो और इंटिक्टिंग बेंड शू हार्न के रूप में हो ।

वि०—बहुत अच्छा ।

[डा० शेखर फिर अपनी पुस्तक पढ़ने में लीन हो जाने हैं । विनय अंग्रेजी के कटे हुए अक्षरों को बल्ब के सामने मजाता है और बल्ब के सामने Chhaya (छाया) दृष्टिगत होता है ।]

वि०—छाया स्प्रिट को बुलाएंगे ?

शे०—हाँ, इस विषय में मैं अधिक बात नहीं कर सकता

वि०—बहुत अच्छा !

शे०—प्रब ठीक हो गया ?

वि०--जी । [मंजुल की ओर देखकर] कुमारी मंजुल को...क्या सो रही है ?

शे०--[तेजी से] तुम जाओ विनय ! और देखो, कोई इस कमरे में आने न पाये ।

वि०--जी । [प्रस्थान]

शे०--[उठकर नीला ओवरकोट पहनते हैं । फिर मंजुल के समीप आते हैं । मंजुल के ऊपर हाथ बढ़ाकर 'पास' देते हुए]

मंजुल, तू अब और भी गहरी नींद में सो जा !

[दो तीन बार 'पास' देते हैं । फिर मंजुल के सिर के नीचे तकिया ठीक करते हैं । और 'एपराटस' के पास आकर स्विच 'आन' करते हैं । लाल बल्ब जल उठता है । उसके बाद हरा बल्ब । ठ्यूब में तरल पदार्थ शीघ्रता से गतिशील हो जाता है । दूसरा 'स्विच' आन करने हैं । एक दूसरा लाल बल्ब जल उठता है । पीले रंग का तरल पदार्थ ठ्यूब में उठने लगता है । फिर वह चक्राकार होकर ठ्यूब में घूमने लगता है । वे समीप रखे हुए 'पैडास्टल' पर खड़े हो जाते हैं । सब प्रकाश बुझ जाता है, केवल 'एपराटस' का हरा और लाल प्रकाश होता है । डा० शेखर आँखें बन्द कर कहते हैं:—

शे०--[धीरे-धीरे] प्रिय प्रकाश के अनंत समूह ! मैं प्रार्थना करता हूँ—मुझे शक्ति दो कि मैं तुम्हारा स्वागत कर सकूँ ।...मेरे समीप आओ, जिससे मैं अनुभव कर सकूँ कि तुम्हारा आना मेरे लिए मंगलमय है ।..... अंधकार के गहन रहस्य को चीरकर मेरे सामने आओ जिससे मैं भी प्रकाशमय हो जाऊँ !... . बादलों को हटाकर आओ, तारों की किरणों पर पैर रखकर धीरे से उतरो कि मैं समझ सकूँ कि प्रकाश मैं और तुम में कोई अंतर नहीं है ।.....

मेरे यंत्र में साकार होकर मेरे सामने आ जाओ ।... ..

मैं भी स्थूल शरीर में सूक्ष्म शरीर हूँ, और इस प्रकार तुमसे वार्तालाप कर सकता हूँ ।.....

मैंने तुम्हारी ज्योति और शक्ति धारण कर ली है ।.....

मुझपर श्वेत प्रकाश की वर्षा हो रही है और मेरे रोम-रंध्रों में व्याप्त होकर मुझे प्रकाश से भर रही है ।.....

जीवित आग्नि के चक्र मेरे चारों ओर घूम रहे हैं जिससे सूक्ष्म शरीर आकर्षित हो सकता है पर मुझ में प्रवेश नहीं कर सकता ।.....

मेरा यह हाथ उत्तरी ध्रुव की भोंति सत्य से उज्ज्वल है जिसमें मैं तुम्हें बुला रहा हूँ ।.....

मैं निद्रा जैसी शान्त समाधि में हूँ । मुझे आत्मविश्वास है कि मैं पवित्र और शोक रहित हूँ ।.....

स्वर्ग की प्रकाशमयी देवी छाया ! तुम आ रही हो...आ रही हो...आ रही हो !.....

[थोड़ी देर शांति रहती है । फिर दरवाज़े पर खट्खट का शब्द । फिर शब्द । छायादेवी पहले की श्वेत वेपथूपा में प्रवेश करती है । उनकी मुखमुद्रा और भाँ गंभीर है । डा० जेखर धीरे-धीरे अपने 'पेंडास्टल' से उतरते हैं ।]

शे० — मेरा तुम्हें नमस्कार स्वीकार हो !

[छायादेवी स्वाकारात्मक सिर हिलाती है ।]

शे० — [दृढ़ता से] मैं यहाँ सत्य के अतिरिक्त कोई दूसरा अनुभव नहीं आने दूँगा । तुम सत्य ही कहोगे, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं । तुम छायादेवी हो ?

डा० — हाँ ।

शे०—श्रीमती छायादेवी हो जिनकी मृत्यु दो महीने पहले हुई थी ?

छा०—हाँ, डाक्टर तुम मुझे जानते हो । तुम्हें उष्णता की लहर आती हुई जान पड़ी होगी । मैं छायादेवी हूँ ।

शे०—हाँ, उष्णता की लहर का अनुभव मैंने किया था । स्वर्ग की देवी को प्रणाम ।

छा०—यह असत्य है । मैं अंतरिक्ष में हूँ । स्वर्ग में नहीं ।

शे०—क्षमा करो । तुम्हें मेरे यंत्र से कष्ट तो नहीं हुआ ?

छा०—नहीं, किन्तु मैं बार बार आने से प्रसन्न नहीं हूँ ।

शे०—इस समय थोड़ा कष्ट और स्वीकार करो । मैं कुछ देर बातें कर सकता हूँ ?

छा०—अधिक से अधिक आधे मुहूर्त ।

शे०—अर्थात् ४५ मिनट ?

छा०—इससे किसी भाँति भी अधिक नहीं ।

शे०—मेरा तापक्रम ऋण है, तुम्हारा धन है । बातें कर सकोगी ?

छा०—हाँ ।

शे०—कुर्सी पर बैठने का कष्ट स्वीकार करो ।

[छायादेवी कुर्सी पर बैठ जाती है ।]

शे०—तुम अभी यहाँ आई थी ?

छा०—हाँ ।

शे०—कैसे चली आई ? मैंने प्रयोग तो नहीं किया था !

छा०—शुक्र तारे की भाँति बल्ब का निमंत्रण मेरे लिए पर्याप्त था—
सितार का संगीत मेरे लिए पर्याप्त था—मंजुल का यहाँ रहना मेरे लिए पर्याप्त था!

शे०—तुमने मंजुल से बातें की थीं ?

छा०—हाँ ।

शे०—तुमने मंजुल से यह क्यों कहा कि चार महीने बाद तुम उसे हृषीकेश ले जाओगी ?

छा०—तुम्हें दंड देने के लिए !

शे०—क्या अंतरिक्ष में जाकर भी तुम्हारी प्रतिहिंसा नहीं गई ?

छा०—लेकिन तुम्हें अपने कार्यों का पूरा पुरस्कार मिलना चाहिए । तुमने मेरे प्रेम को टुकराया । तुमने मुझे वचन देकर भी मुझसे विवाह नहीं किया । मैं कुछ नहीं कह सकी । वन में आग लगने पर जमीन पर पड़ी हुई लता की तरह जलती रही । लेकिन तुमने एक कण जल भी नहीं दिया । तुमने मुझे सपने की तरह हँस कर टाल दिया और मैं नींद के अधरे में तड़पती रही । तुम डाक्टर संसार के उपकारी होने पर भी एकका उपकार नहीं कर सके ?

शे०—मैं असमर्थ था छाया !

छा०—चुप रहो डाक्टर, उस दिन तुमने मुझसे क्या कहा था—छाया, मैं तुम्हारी छाया की भी पूजा करूँगा । लेकिन तुम मेरे शरीर की ओर देख भी नहीं सके । तुमने फूलों की माला उस दिन मुझे पहनाई थी लेकिन उसके बाद तुमने शायद यह नहीं देखा कि उन फूलों के सूखने के पहले ही मैं सूखने लगी थी ।

शे०—मैं क्या करता छाया । मिलने के दूसरे दिन मेरे मित्र के मरने का समाचार मिला । मैं अपने मित्र को अपने से अधिक प्यार करता था । उस मित्र की विधवा पत्नी और लड़की मंजुल के पोषण का भार मैंने अपने कंधे पर लिया । मैंने सोचा, तुमसे विवाह करने पर मैं अपने मित्र की विधवा पत्नी की सेवा नहीं कर सकूँगा । उस मित्र के परिवार में कोई नहीं था । फिर मैं क्या करता छाया ! वह विधवा पत्नी स्वर्ग की देवी से भी अधिक

पवित्र, मेरी सेवा स्वीकार कर सकी, क्या इस संसार में मेरे लिए सबसे बड़े सुख की बात नहीं है ? यह मंजुल मुझे मेरे प्राणों से अधिक प्रिय है। अपने प्रियतम मित्र की स्मृति-रेखा मंजुल ! जो चार महीने बाद मर रही है।

छा०—लेकिन तुमने मेरे संसार में आग लगा दी। डाक्टर, तुमने कभी स्त्री के हृदय की थाह नहीं ली कि वह प्रेम करते समय समुद्र से भी अधिक गहरी और गंभीर हो जाती है और निराश होने पर आग की लपट से भी अधिक भयानक, जिसकी एक एक चिनगारी से सारा जीवन जल जल कर वृजता है जिससे उसे बार बार जलना पड़े। जैसे हृदय के पास निकला हुआ एक फाड़ा हो जो हृदय की धड़कन से दर्द करे। फिर भी मैं मौन रही, हँसती रही, लेकिन तुमने यह न समझा कि छाया इसलिए बढ़ रही है क्योंकि उसके जीवन का सूर्य ढल रहा है। मेरे जीवन के वे दिन मेरे मौन रहने में अंधेरे के समान भयानक हो रहे थे। डाक्टर.....मैं अधिक दिनों तक जिन्दा नहीं रह सकी।

शे०—उन पुरानी बातों को भूल जाओ, छाया !

छा०—अब तो कुछ भी शेष नहीं है। वे बातें स्वप्न जैसी मालूम होती हैं लेकिन जिस तरह भयानक स्वप्न देखलेने के बाद उदासी रह जाती है उसी तरह अब भी मेरे मन में एक काली रेखा खिंची है। जिस तरह नदी के उतर जाने से किनारे की मिट्टी घुल कर टेढ़ी मेढ़ी हो जाय—टूटफूट जाय—ऐसी मेरी भावना रह गई है। चढ़ी हुई लहरों के चले जाने के बाद मिट्टी पर जो चिन्ह बने रह जाते हैं उसी तरह मेरे पास आज भी तुम्हारी स्मृति-रेखा है डाक्टर !

शे०—मैंने तुमसे विवाह नहीं किया छाया, केवल एक पवित्र उद्देश्य के लिए ! अपने जीवन की समस्त सेवाओं को एक पवित्र स्मृति में उत्सर्ग करने के लिए।

छा०—इन्द्रधनुष बनने के पहले ही तूफान आ गया। लेकिन तुम कमजोर थे डाक्टर। तुम अपनी मित्र-पत्नी की सेवा भी करते और किसी पीड़ित हृदय से प्रेम भी। मनुष्य क्या नहीं कर सकता ! वह सूर्य की तरह उष्णता भी पहुँचा सकता है और प्रकाश भी। लेकिन तुम सिर्फ एक विनगारी की तरह उष्णता देकर काले कण की तरह ज़मीन पर गिर पड़े। तुम प्रकाश नहीं दे सके डाक्टर ! मेरे पास तुम्हारे पूर्व जन्म का भी चित्र है जिसमें तुमने मुझसे विवाह किया था—उसी के नाते मैंने तुमसे प्रेम किया किन्तु—

शे०—मैं अपराधी हूँ, छाया। मुझे क्षमा करो !

छा०—अब क्षमा चाहते हो ? और पहले ! पहले सेवा के व्रत में क्या आत्मप्रशंसा के भूखे नहीं थे ? चोर की तरह क्या तुम मेरी ओर से भाग नहीं गये ? यदि मुझसे विवाह नहीं कर सकते थे तो एक वीर की तरह दिये हुए वचन के लिए पश्चात्तप करते। लेकिन तुमने मेरी ओर देखा ही नहीं। जैसे मैं तुम्हें मृग-जल की तरह धोखा देती।

शे०—नहीं छाया ! मैं डर रहा था कि कहीं तुम्हारी ओर देख कर मैं अपने सेवा-व्रत से डिग न जाऊँ, मैं अपने मित्र की पत्नी की ओर से उदासीन न हो जाऊँ।

छा०—तो तुम कायर भी थे। यह क्यों नहीं कहते कि तुम्हारे भीतर आशंकाएँ भी थीं, डर भी था। साहस नहीं था कि तुम मेरी ओर देख कर स्पष्ट बात कहते ! शीशे को तोड़ कर उसके चूर हुए टुकड़ों को ही उठा लिया होता। समझ लेनी कि भूल से शीशा टूट गया और उस टूटे हुए शीशे से तुम्हें कुछ अनुराग भी है। लेकिन तुमने मुझे ऊँचे शिखर से गिरा कर यह भी नहीं देखा कि मैं कितने नीचे गिर रही हूँ—असहाय हो कर टूटे हुए तारे की तरह कहाँ जा रही हूँ—किस पत्थर की ओर चूर चूर

हाने के लिए बढ़ रही हूँ ! स्त्री के हृदय में आग लगा कर त्याग का निर्मल जल पीते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आई ? तुम्हें कुछ ध्यान था कि उस जल में मेरे कितने आँसू मिले हुए है ?

शे०—मैं नहीं जानता था देवी, कि तुम्हारा प्रेम इतनी सीमा तक पहुँच चुका है ।

छा०—स्त्री के सच्चे प्रेम की सीमा नहीं जानते और मृत्यु का रहस्य खोजने में व्यस्त हो । कभी मेरे रहस्य की ओर भी दृष्टि करते ! लेकिन मकड़ी की तरह गोल जाले को चुनकर उसके बीच में बैठ कर पृथ्वी की गोलाई नहीं देखी जा सकती । जुगनू के जीवन की चिनगारी से ज्वालामुखी की आग की कल्पना नहीं हो सकती ! डाक्टर ! तुम नहीं समझ सके कि स्त्रियों की निराशा के अंधकार में ही एक ज्वालामुखी संता है और उसके जागने पर स्त्री को आग के शिवाय कुछ नहीं दीखता ।

शे०—मैं समझता था देवी कि तुम्हें मेरे सेवाव्रत से संतोष होगा । आजन्म अविवाहित शेर के प्रति तुम करुणा और सुख प्रकट करोगी । लेकिन मेरे आत्म-बलिदान का कोई मूल्य नहीं रहा । मैंने अपना सारा सुख, सारा आनन्द एक देवी के पावन चरणों में रख दिया और उसका कुछ अर्थ नहीं निकल सका ! मित्र को पत्नी में माँ की छाया देखी और मंजुल में पुत्री की—क्या इस विषमता में मेरा जीवन व्यर्थ समझा जाय ? मंजुल को ज्ञात ही नहीं कि उसके पिता में और मुझमें क्या अंतर है । लेकिन मंजुल का सुख मेरे जीवन का सबसे बड़ा आदर्श है । उसके लिए मैं सब कुछ कर सकता हूँ । और मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि यदि अपने मित्र की पुत्री मंजुल के सुख के लिए मुझे ईश्वर की पूजा भी ठुकरानी पड़े तो देवी, मैं उसके लिए तैयार हूँ । यह मेरा व्रत है, यह मेरी तपस्या है ! यह मेरा सब कुछ है ।

छा०—यह सब तो तुमने किया लेकिन मेरे निरपराध जीवन को यो ही जलता हुआ छोड़ दिया । जलते जलते मेरे आँसू की धारा आग की नदी बन गई लेकिन धर्मात्मा डाक्टर, अब मैं तुमसे कुछ न कहूँगी । एक बात कह कर जाना चाहती हूँ कि अब तुम मुझे बुलाने का कष्ट न किया करो । मुझे अपने ही संसार में रहने दो । बार बार तुम्हारी पृथ्वी का स्पर्श मेरी शांति के स्वर्ग को नरक बना देता है ।

शे०—मैं इसके लिए तैयार हूँ लेकिन देवी, मंजुल का जीवन कम न होने पाय । चार महीने के बाद भी वह जीवित रहे और उसके मस्तिष्क से यह बात निकल जाय कि तुमने कुछ समय पहले उसे चार महीने बाद हृषीकेश ले जाने की बात कही थी । जैसे कुछ हुआ ही न हो । पुनर्जन्म में जिस प्रकार मनुष्य पिछले जन्म की बातें भूल जाता है, उसी भाँति मंजुल भी तुम्हारी बात भूल जाय ।

छा०—डाक्टर, मैं यह नहीं कर सकती ।

शे०—देवी, तुम सब कुछ कर सकती हो । मैं प्रार्थना करता हूँ । तुम्हारी इच्छा की तरंग वायु बन कर मंजुल की साँस से उसके मस्तिष्क में पहुँचे और उसके मृत्यु के विचार को लेकर दूसरे ही क्षण बाहर आ जाय ।

छा०—डाक्टर, मैं यह नहीं कर सकती ।

शे०—मैं भिक्षा माँगता हूँ देवी । देवी, मैं भिक्षा माँगता हूँ । [आगे बढ़ते हैं ।]

छा०—डाक्टर वहीं रहो । अपनी सीमा से बाहर मत बढ़ो । मैं तुम्हारे संसार की स्त्री नहीं हूँ । मुझे तुम छ नहीं सकते । छूने का परिणाम बहुत भयंकर होगा ।

शे०—[रुक कर] अच्छा, आगे नहीं बढ़ेगा लेकिन मेरी प्रार्थना स्वीकार करो ।

छा०—डाक्टर, कुछ वर्ष पहले की बात सोचो। मैंने तुमसे प्रार्थना की थी और तुमने तिरस्कार किया था। आज तुम प्रार्थना कर रहे हो। बोलो, मैं तुम्हारा तिरस्कार कहीं ? संयम की जंजीर से जकड़े हुए संन्यासी, दूसरे का हृदय जलाना भी पाप की परिभाषा में आ सकता है। उस पाप का परिणाम देखने की शक्ति क्या तुममें नहीं है ?

शे०—बहुत बड़ी परीक्षा न लो देवी ! मंजुल की मृत्यु देखने की शक्ति मुझमें नहीं है।

छा०—जैसे मेरी मृत्यु देखने की शक्ति तुममें थी वैसे ही मंजुल की मृत्यु देखने की शक्ति का आवाहन करो।

शे०—छाया, यदि यही बात रही तो मैं सचमुच ऐसी स्वर्गाय आत्माओं का आवाहन करूँगा कि तुमको नष्ट हो जाना होगा। मेरे आराध्य, शक्ति दो कि मैं छाया को नष्ट कर सकूँ ! तुम्हें नष्ट होना होगा छाया।

छा०—क्या डाक्टर ? फिर से कहना। इस वाक्य को फिर मुँह पर न लाना। आत्माएँ नष्ट नहीं होती, न वे उत्पन्न होती हैं। मैं नष्ट नहीं हो सकती। मुझसे युद्ध करने में तुम्हारी हार होगी—यह मैं जानती हूँ। तुम्हारे ये सारे यंत्र नष्ट हो जायेंगे, तुम नष्ट हो जाओगे और देखो, और देखो, तुम अपनी सीमा से बहुत बढ़ते जा रहे हो। मृत्यु के रहस्य को कोई नहीं जान सकता लेकिन तुम अपने परिश्रम से बहुत कुछ जान गये। यह रहस्य संसार के मनुष्यों के लिए नहीं है। ईश्वर ने मृत्यु को जीवन के बाद इसलिए बनाया है कि संसार का जीवन जीवन रहे।

शे०—लेकिन मैं रुक नहीं सकता देवी !

छा०—रुकना होगा, तुम्हारी ही खोज का परिणाम है कि मंजुल अपनी मृत्यु की बात जान सकी।

शे० — ओह, मंजुल की मृत्यु ! बचाओ देवी, मुझे ।

छा० — तुम मंजुल के लिए सब कुछ कर सकते हो ?

शे० — सब कुछ । अपने जीवन के बंधन भी तोड़ सकता हूँ ।

छा० — तो पहले अपना यह यंत्र तोड़ो । [तीव्र दृष्टि]

शे० — [चौंक कर] एँ—यह यंत्र तोड़ूँ ? अपने जीवन की सारी साधन ? सारी तपस्या ? न, न देवी, यह मुझसे न होगा ?

छा० — तो मंजुल की मृत्यु निश्चित है । मैं यह नहीं चाहती कि तुम आत्माओं के संसार में भी तूफ़ान उठाओ—मृत्यु के परदे को फाड़ कर तुम आगे कदम बढ़ाओ । तुम वहीं रहो जहाँ तक तुम्हें रहने का अधिकार है । और तुम्हें अपनी सारी साधनाएँ भूलनी होंगी । बोलो, मंजुल के जीवन और अपने यंत्र में तुम्हें कौन अधिक प्रिय है ?

शे० — यदि यही प्रश्न है तो मंजुल का जीवन देवी !

छा० — तो अपना यंत्र नष्ट करो ।

शे० — ओह, यंत्र नष्ट करूँ । अच्छा, मंजुल के जीवन के लिए करूँगा, निश्चय करूँगा । अपना यंत्र तोड़ूँगा । [यंत्र तोड़ने के लिए आगे बढ़ते हैं । फिर रुक जाते हैं ।] नहीं देवी । मुझे यह दंड न दो । देवी, मुझे यह दंड न दो । मेरे जीवन की सारी साधना !

छा० — वीर पुरुष की तरह दंड स्वीकार करो डाक्टर ! यंत्र तोड़ दो ।

शे० — तोड़ दूँ...अच्छा तोड़ता हूँ । [रुक जाता है ।]

छा० — शक्तिशाली डाक्टर, मंजुल के लंबे जीवन के लिए यंत्र तोड़ दो ।

शे० — [चिल्ला कर] मंजुल के लंबे जीवन के लिए...[यंत्र पर

प्रहार करते हैं। यंत्र टूट जाता है। और छाया देवी भी नहीं दाय्य पड़ती।]

शे०—[पुकार कर] छाया, छाया !! [कोई उत्तर नहीं आता। शेखर स्विच 'आन' करते हैं। उजेला हो जाता है। मंजुल जागती है।]

मं०—[आँखें मलते हुए] पिताजी !

शे०—मंजुल !

मं०—[उठकर] पिताजी नींद आ गई ! मैं सो गई । [शेखर कुछ नहीं बोलते ।]

मं०—पिताजी, बोलते क्यों नहीं ? नाराज हो गये ?

शे०—[गंभीरता से भारी स्वर में] नहीं मंजुल ।

मं०—अच्छा, अगर मेरे सोने से नाराज होते हैं तो रात में भी नहीं सोऊँगी। लेकिन आपको अच्छी अच्छी बातें सुनानी होंगी।

शे०—और तू अगर हृषीकेश चली गई तो ?

मं०—मैं अपने पिता जी को छोड़ कर हृषीवेश क्यों जाने लगी ? मैं तो हमेशा यही रहूँगी आप के पास।

शे०—तुझसे किसी ने अपने साथ हृषीकेश ले जाने की बात कही थी ?

मं०—मुझसे ? [सोचती है ।] मुझसे कौन कहेगा ? यदि आप अपने पास से हटाना चाहते हो तो बात दूसरी है।

शे०—ओह ! मेरी मंजुल...[मंजुल को हृदय से लगाता है]

मं०—[टूटे हुए 'एपराट्स' को देख कर] ओ, यह किसने तोड़ा पिताजी ! ['एपराट्स' के पाम शीघ्रता से जाती है ।]

शे०—[गंभीरता से] मैंने ।

मं०—आपने ? अरे आप तो इसके एक कोर्क के इधर से उधर होने पर चिन्तित थे । आपने कैसे तोड़ा ?

शे०—मैंने तोड़ दिया, मंजुल मैंने, अब कोई खोज नहीं करूँगा । अब मैं और मंजुल, मेरी बेटी ।

मं०—पिताजी...

शे०—मंजुल...[दोनों एक दूसरे की ओर बढ़ते हैं ।]

(परदा गिरता है !)



रजनी की रात

[नवंबर १९४१]

अभिनय-भूमिका

इस नाटक का सर्वप्रथम अभिनय इलाहाबाद यूनिवर्सिटी डेलीगेसी वीमेन्स एसोसियेशन द्वारा डेलीगेसी के वार्षिक समारोह के अवसर पर कुमारी शान्ति सिन्हा बी. ए. और कुमारी मीना अर्नैड बी. ए. के निर्देशन में ४ दिसम्बर १९४१ को हुआ।
भूमिका इस प्रकार थी—

रजनी	.	कुमारी मुशीला मालवीय
कनक	:	कुमारी कुमुदिनी पांडेय
आनंद	:	कुमारी राजरानी शुक्ल
वृद्धा आदमी	:	कुमारी स्वर्णलता मिश्र बी. ए.
केसर	:	कुमारी एम० वेन्सन
मंगल	:	कुमारी कमला शुक्ल

नाटक के पात्र

१. रजनी : एक स्वतंत्रता-प्रिय, गंभीर, कुमारी युवती ।
२. कनक : एक सतत प्रसन्न कुमारी युवती, रजनी की सखी ।
३. आनंद : कनक के भाई । निर्भीक, शिकारी, वीर,
स्वतंत्रता-प्रिय ।
४. केसर : रजनी की नौकरानी ।
५. मंगल : रजनी का नौकर ।

[काश्मीर प्रदेश । एक पहाड़ी का समतल भाग जैसे सौंदर्य साकार हो गया है । चारों ओर फूलों के पौधे और लताएँ । एक संभ्रांत परिवार यहाँ कुछ दिनों के लिए वायु-परिवर्तनार्थ आया था । परिवार में वृद्ध पिता युवती पुत्री, दो नौकर और एक नौकरानी थी । आज दोपहर वृद्ध पिता, एक नौकर के साथ घर लौट गये । अब यहाँ पर केवल पुत्री, एक नौकर और नौकरानी है । युवती का नाम है रजनी । १८ वर्ष के लगभग आयु होगी । गौर वर्ण, सुंदर सुखमुद्रा और दुबला शरीर । वह मफेद मिल्क की साड़ी पहने हुए है । माथे में बिंदी और अन्य साधारण शृंगार । उसका कुछ गंभीर व्यक्तित्व है ।

रजनी के तंत्र से कुछ दूर पर एक दूसरा परिवार ठहरा हुआ है । उस परिवार में भी एक युवती है । उसका नाम है कनक । आयु उसकी रजनी की आयु के लगभग बराबर ही है । वह नीली रेशमी साड़ी पहने हुए है और फूलों से अपना शृंगार किये है । ज्ञात होता है, वह वनवाला है । प्रसन्नता की रेखा ने उसके मुख को खिला दिया है । कनक और रजनी में मित्रता हो गई है । दोनों ही प्रवास में हैं और समीप रहने के कारण दोनों में परिजनो का सा स्नेह हो गया है । कभी-कभी कनक रजनी के यहाँ आकर समय बिताने के लिए बैठ जाती है । रजनी कनक के यहाँ अपेक्षाकृत कम जाती है । किन्तु जब दोनों मिलती है तब दोनों में प्रायः कुछ विवाद छिड़ जाता है ।

आज रजनी अपने तबू के एक बड़े कमरे में बैठी है । कमरे में सजावट है । नीचे कालीन बिछा हुआ है । बीचोबीच एक टेबुल है जिस पर फूलदान रक्खा है । कमरे में दो तीन कुर्सियाँ पड़ी हैं । एक कोने में मफेद चादर से सजा हुआ पलंग है । पलंग के समीप आलमारी में पुस्तकें सुंदरता के साथ सजी हैं । आलमारी पर हाथीदाँत और मगमरमर

को कुछ मूर्तियाँ रक्खी हैं। आल्मारी के समीप एक टेबुल और कुर्सी है। जिस पर बैठकर रजनी कभी-कभी लिखती पढ़ती है। एक कोने में सितार टंगा हुआ है। उसी के समीप एक घड़ी है। जिसमें रात के नाँ बजे हैं। घड़ी के पास ही रजनी के पिता का एक तैलचित्र लगा हुआ है। उसके नीचे एक अँगीठी है जिसमें अंगारे दहक रहे हैं।

पिता के चले जाने से रजनी आज कुछ मलीन है यद्यपि वह आत्म-विश्वास से अपने को सँभाले हुए है। वह उस समय एक पुस्तक पढ़ रही है। ध्यान में मग्न है। धीरे-धीरे कनक आती है। उसके हाथ में फूलों की एक डलिया है। उसने अपना सारा शरीर फूलों के आभूषणों से सजाया है। वह चुपके से रजनी के पीछे आकर उसके सिर पर फूल बरसा कर हँस पड़ती है। रजनी चौंककर उसकी ओर देखती है।]

रजनी—ओह !...कनक ...!

कनक—इस फूलों के देश काश्मीर में आकर भी पढ़ना !

र०—[अँगड़ाई लेती है] आओ, बैठो। [पुस्तक बंद करती हुई] और क्या कहें कनक ?

क०—[बैठते हुए] काम की कुछ कमी है रजनी ! हवा के झोंकों से झूमती हुई सफ़ेदा की टहनियों को देखा है ? ख़ुशी से झूमते रहना उनका काम है। मानसबल की मछलियों को देखा है ? लहरो की लंबी कोरों में चितवन की तरह मचलती है।

र०—मैं मछली नहीं हूँ कनक।

क०—सो तो एक बंगाली भी कह सकता है। लेकिन मैं कहती हूँ कि वे मछलियाँ अच्छी हैं जो किताबें नहीं पढ़तीं, गंभीरता से कुर्सी पर नहा बैठतीं। जानती हैं कि भगवान ने जो छोटी सी ज़िदगी दी है उसमें खेलना और खुश रहना—बस यही दो बातें हैं।

र०—अगर यही होता तो दुनिया में कुछ काम ही न हुआ होता । वह एक महफ़िल हो जाती और जो जितने जोर से हँसता वह उतना ही बड़ा आदमी होता ।

क०—बेवकूफी से हँसना तो रोने से भी बुरा है रजनी । उससे तो तुम्हारी गम्भीरता अच्छी ! लेकिन जिदगी का आनंद लेना जिदगी को पहि-
चानना है । अच्छा यह देखा, यह फूल है । [हाथ में फूल लेती है] ज़रा
इमे पैरो से कुचल दागी ! [पैरो के पास फेंकती है ।]

र०—वाह, ऐसी खूबसूरत चीज़ पैरो से कुचली जा सकती है ? [फूल
कनक के केशों में लगाती है ।]

क०—यही तो तुम कर रही हो रजनी ! यह जिदगी फूल की तरह
खिली हुई है; इसे तुम गंभीरता के पैरो से कुचल रही हो, धूल में
मिला रही हो ।

र०—लेकिन कनक, तुम समझती हो कि इस जिदगी के फूल में
काँटे नहीं हैं ?

क०—होगे, उन्हें निकाल कर फेंक दो । लेकिन तुमने तो जिदगी के
फूल को ही काँटा बना रखा है । गंभीर, मौन, उदास—तुम्हारी ये सूत्रे
तो जैसे जिदगी के दिल में त्रिशूल की तरह चुभी हुई हैं । अगर ऐसी बात
है तो यह सितार क्यों यहाँ रख छोड़ा है ?

र०—पिताजी मेरे लिए लाये थे । मुझे अच्छा ही नहीं लगा । मैंने
सब तार इसके तोड़ डाले ।

क०—बहुत अच्छा किया, मैं भी अगर एक प्रार्थना करूँ, मानोगी ?

र०—क्या ?

क०—ये कितने मुझे दे सकती हो ? थोड़ी देर के लिए ?

र०—क्यों ?

क०—मै इन्हें खूबसूरती के साथ नहलाना चाहती हूँ !

र०—शः, क्या कह रही हो ?

क०—नहीं, शायद उन्होने कभी स्नान नहीं किया । निखर उठेंगी ।

[मंगल किताबों का ढेर लेकर आता है ।]

मं०—सरकार, ये किताबें बाहर पड़ी थीं । इन्हें अंदर रख दूँ ?

र०—मंगल ? अच्छा, इन्हें उस कोने में सजा दे ।

[मंगल किताबें सजाकर रखने लगता है ।]

क०—यह किताबों का 'प्रोसैशन' कहाँ से आ रहा है ?

र०—प्रोसैशन ? [किञ्चित हँस कर] कुछ नहीं । शाम को तंबू से बाहर पड़ रही थी । वही ये किताबें रह गई थी ।

क०—शाम को भी पढ़ना ! तुम तो रजनी, एक काम करो । सारी किताबों को अपने कपड़ों पर छपवा लो । कहीं भी जाना हुआ, किताबों को पहने हुए जा रहे हैं । किताबों को उठाने-रखने की ज़हमत से बच जाओगी । जिस विषय को पढ़ना हुआ उस विषय की साड़ी पहन ली ।

र०—कनक, आज मैं उदास हूँ और तुम बातें गढ़ती जा रही हो ।

क०—तुम उदास क्यों हो ? इसीलिए ठीक बातें नहीं कर रही हो ।

र०—बहुत कोशिश करती हूँ कि उस पर सोचूँ ही नहीं लेकिन... उदासी आ ही जाती है ।

क०—क्यों ?

र०—आज पिताजी घर वापस चले गये ।

क०—किसलिए ?

र०—मैंने उन्हें नाराज़ कर दिया ।

क०—नाराज़ कर दिया ?

र०—हाँ, नाराज़ कर दिया । उनका अपमान कर दिया ।

क०—अपमान कर दिया ? कैसे ?

र०—मैंने अपने जान तो नहीं किया, लेकिन उनके ख्याल से अपमान हो गया ।

क०—किस बात से ?

र०—मैंने उनसे कहा था पिताजी, दुनिया बहुत धोखेबाज़ है । बहुत बनी हुई है । उसमें सिर्फ स्वार्थ ही स्वार्थ है । भाई भाई में स्वार्थ है । पुरुष और...

क०—शायद तुमने यह भी कहा होगा कि पिता पुत्री में भी स्वार्थ है ।

र०—हाँ, यह भी कहा । वे कहने लगे मेरा क्या स्वार्थ है ? मैंने कह दिया कि मेरे योग्य होने से आपकी चिताएँ कम हो जायँगी और समाज में आपकी मुद्रिकलें आसान हो जायँगी ।

क०—यह ठीक नहीं है रजनी !

र०—ठीक क्यों नहीं ? [उठ खड़ी होती है ।] लड़की के खराब निकल जानेपर किस पिता ने उसका तिरस्कार नहीं किया ? पिता तो ऐसी लड़की का मुँह देखना भी पसन्द नहीं करता । अगर आज मैं अपनी मर्यादा छोड़ दूँ तो पिताजी का प्रेम क्या बालू की दीवार की तरह एक मिनट में नहीं गिर पड़ेगा ? फिर वह प्रेम कहाँ रह गया ? और सुनो कनक, यह सारी चीज़ें समाज ने मनुष्य को दी हैं—ऐसे समाज ने जो जंजीरों से कसा हुआ है, पुरुष स्त्री पर अधिकार दिखलाता है जैसे जिदगी में अधिकार के सिवाय कुछ है ही नहीं । जिदगी तड़पती है और अधिकार उस पर हँसता है कनक ! अगर यह अधिकार न होता तो क्या स्त्री पुरुष को प्यार न करती ? पुत्र पिता का आदर न करता ?

क०—ठीक है, लेकिन रजनी ! तुम जैसे सभी तो नहीं है । कहीं पुत्र

पिता को पीट देता या स्त्री पति से कहती—मेरी बिना इजाज़त आफ़िस मत जाओ—युनीवर्सिटी में पढ़ाने मत जाओ ।

र०—तो ऐसा क्या अब नहीं होता ? लोगो को आफ़िस में देरी हो ही जाती है । युनीवर्सिटी में लड़के बैठे रहते हैं और प्रोफ़ेसर ठीक वक्त पर आ नहीं सकते ।

क०—इसीलिए तो मर्यादा की सख़्त ज़रूरत है । “भथारिटी” का काम यही है । संसार के काम को चलाने के लिए अधिकार की आवश्यकता है ।

र०—लेकिन उसमें जिदगी का उत्साह जो ख़राब हो जाता है, कनक । पुत्र बिना किसी शासन के जो प्यार करता वह तो हृदय से उमड़ता हुआ प्यार होता । स्वभावतः स्त्री जैसा प्यार करती, क्या उसी तरह का प्यार एक डरी हुई, दबी हुई स्त्री करेगी ? यह समाज का अन्याय है कनक !

क०—इसे अन्याय नहीं कह सकती । बंधन तो इसलिए चाहिए कि उससे आदमी स्वतंत्र हो सके । अपनी बेतरतीबी से बढ़ती हुई इच्छाओं को रोक कर वह उन्नति के रास्ते पर क्या नहीं बढ़ सकेगा ? तुम एक पक्षी को देखती हो ? वह सिर्फ़ अपने दो पंखों के बंधन में बंधा हुआ है लेकिन उन्हीं बंधनों से वह सारे आकाश की हजारों कोसों की दूरी स्वतंत्रता से पार कर जाता है । रजनी ! बंधन को उन्नति के रास्ते में रोड़ा मत समझो । बंधन को स्वतंत्रता का सहायक समझो ।

र०—ये सब कवि की कल्पनाएँ हैं ।

क०—तो इसीलिए तुम्हारे पिताजी नाराज़ हो गये ?

र०—नाराज़ क्या हुए, झुंझलाकर रह गये । मैंने कहा—पिताजी, मैं अकेली रहना चाहती हूँ ।

क०—पिताजी ने क्या कहा ?

र०—उन्होंने कहा—बेटी, माँ तो तेरी छुटपन में ही चली गई थी। अब तू ही एक-मात्र मेरा सहारा थी सो तू ऐसी बात कहती है !

क०—उस वक्त पिताजी की आँखों में आँसू जरूर रहे होंगे।

र०—हाँ, उनकी आँखें कुछ गीली जरूर हो गई थी।

क०—तो तुम अकेली रहना चाहती हो ?

र०—हाँ, मैं रहके देखना चाहती हूँ।

क०—कब तक ?

र०—कनक, समाज मुझे अच्छा नहीं लगता। माँ का प्रेम मैं जानती नहीं। मुझे समझने की फुर्सत पिताजी को है नहीं। मैं तो ज़िदगी से ऊब रही हूँ। चाहती हूँ कि किसी एकान्त स्थान में सोचूँ कि मैं क्या करूँ। मुझे कुछ अच्छा नहीं लगता, कनक। मैं ही तो पिताजी को अपने साथ यहाँ लाई थी, आबहवा बदलने के बहाने। मैंने अपने मन में सोच लिया था कि उन्हें यहाँ से वापस कर दूँगी।

क०—तो अब यहाँ तुम्हारे साथ कौन हैं ?

र०—केसर और मंगल।

क०—नौकरानी और नौकर, सिर्फ !

र०—हाँ।

क०—तो यहाँ अकेली रहकर क्या करोगी ?

र०—पढ़ूँगी। सोचूँगी। मुझे ऐसा मालूम होता है कनक कि ज़िदगी में कोई नयापन नहीं है। पुराने जमाने से आदमी जैसा रहता चला आया है, उसी तरह वह रहता है। उसमें सारी चीज़ें बासी हो गई हैं। मुझे उनसे एक तरह की दुर्गंध आ रही है। जीने के ढंग में कोई नयापन नहीं है। इसीलिए मैंने स्कूल की नौकरी छोड़ दी।

क०—स्कूल की नाकरी छोड़ दो ! अब पिताजी को भी छोड़ दिया । विवाह तो अभी नहीं हुआ नहीं तो आगे चलकर उन्हें भी...

र०—कुछ नहीं होने का कनक । मैं तो देखती हूँ कि परिवार में डूबा हुआ आदमी कुछ नहीं कर सकता । जिंदगी की जरूरतों को पूरा करता हुआ सोता है, जागता है । उसे विवाह करना पड़ता है, बच्चों का भरण पोषण करना पड़ता है । लुट्टा होना पड़ता है और मर जाना पड़ता है । एक ही रास्ता, एक ही चाल, एक ही दूरी । मुझे इससे घृणा हो गयी है, कनक । मैं यह कुछ नहीं चाहती ।

क०—तो रजनी, तुम चाहती क्या हो ?

र०—मैं क्या कहूँ कि क्या चाहती हूँ ! मैं समाज का बंधन नहीं चाहती । मैं ममता और मोह के बंधनों को तोड़कर स्वतंत्र विचारों में विश्वास रखती हूँ । कनक, जब ऐसा हागा ता संसार कितना अच्छा होगा !

क०—बहुत अच्छा होगा । पिता पुत्री से कहेगा, घर चलो । पुत्री कहेगी—पिताजी, नमस्कार । वह पुरुष के बदले पुस्तकों से प्रेम करेगी । हँसने खेलने के बदले गंभीर रहेगी—कहेगी [गाल फुलाकर] मैं समाज का बंधन नहीं चाहती ।

र०—मैं तुम पर दया करती हूँ कनक, तुम क्या समझो ? रूढ़ियों में बँधी हुई कनक, तुम क्या समझो कि स्वतंत्र विचार क्या होते हैं । अंध-विश्वासों की जंजीरो में तुम्हारे प्राण भी कस गये हैं । बरसों की गुलामी में पड़ी हुई स्त्री इन बातों का देर में समझेगी, तुम अभी नहीं समझ सकती । जाओ, फूलों के गजरे बनाओ और दुलहिन बनो ।

क०—रजनी, अब इस बकझक को छोड़ो । बोलो, तुम यहाँ कब तक रहोगी ?

र०—कह तो चुकी हूँ, हमेशा ।

क०—अकेले ?

र०—और क्या ? मैं सोचूँगी, समझूँगी, पढ़ूँगी कि समाज को कैसे बदलना चाहिए। बी० ए० पास करने के बाद मैंने अपना सारा समय यहीं साचने में लगाया है। हमारे समाज में सब से पहिले पिता लड़की को कमज़ोर बना देता है। वह समझ लेता है कि लड़की का विवाह करना है। उसे वह पढ़ाता है, लिखाता है। यह सब इसलिए कि लड़की का विवाह वह अच्छी जगह कर सके और फिर वह लड़की पति के घर वालों की गुलाम हो जाय; उन्हें खाना पकाकर खिलाये और खुद गाली खाये। यह सब कुछ नहीं होने का। मुझे भी पिताजी ने यह सब सिखलाने की कोशिश की लेकिन मैं इन विचारों की कायल नहीं। खुद ऐसी बातें सोचकर निकालू कि मनुष्य जिदगी में कभी गुलाम न हो, किसी का गुलाम न हो। मैं परिवार और समाज नहीं चाहती। मैं मनुष्य के लिए पूरी स्वतंत्रता चाहती हूँ। कनक, बंधन मनुष्यता का कलंक है।

क०—इतनी सब बातों में तुम्हें पिताजी की याद नहीं आयेगी ?

र०—आयेगी क्यों नहीं, लेकिन मुझे उस याद को भूल जाना होगा। मैं अपनी कमजोरी पर विजय पाना चाहती हूँ कनक। आज उदास थी। क्योंकि पिता जी आज ही गये हैं, लेकिन दस-पंद्रह रोज़ बाद यह रजनी दूसरी ही रजनी होगी।

क०—तब तो तुम मुझे भी भूल जाओगी !

र०—तुम्हें कैसे भूल सकती हूँ ?

क०—जैसे पिता जी को भूलने की कोशिश करती हो।

र०—[कुछ अप्रतिभ हो कर] लेकिन भूलने के माने यह नहीं है कि मैं तुम्हारी याद भी न करूँ। हाँ, तुम्हारी याद से रोने के बदले मैं हँसना चाहती हूँ।

क०—अच्छा तो सुनो, हम लोग भी कल जा रहे हैं ।

र०—अरे, कल ही ?

क०—हाँ, माता जी से पूछ कर तुमसे आखिरी बार मिलने आई थी । तुम्हारी बातों में उलझ गई । मैंने सोचा, ऐसी बातें अब कब सुनने को मिलेंगी । सुनती रही; अब देर हो रही है ।

र० — अरे, तुम भी जा रही हो, तुम भी जा रही हो ।

क०—हाँ, भाई का एग्जामिनेशन पास आ गया है । उन्हें तकलीफ़ होती होगी खाने पीने की । उन्होंने अपनी ज़िद में अभी तक शादी भी नहीं की । नहीं तो ऐसी तकलीफ़ उन्हें होती ही क्यों ? कुछ लड़के कैसे आँख मूँद कर शादी करा लेते हैं—मेरे भाई साहब...

र० — शादी नहीं की तो क्या बुरा किया ।

क० — उनके विचार कुछ-कुछ तुम्हारे विचारों से मिलते हैं । कहते हैं, मैं विवाह करूँगा ही नहीं और करूँगा तो पहले लड़की को खूब समझ लूँगा । मैंने कहा—ऐसा करोगे भाई साहब तो लड़की तुम्हें पहले समझेगी [दोनों हँस पड़ती है ।]

र०—कनक, तुम अभी नहीं जा सकती ।

क० — लेकिन रजनी, हम लोगों को जाना ही होगा । भाई कहते हैं कि खाना अच्छा और वक्तू पर न मिलने से पढ़ाई हो ही नहीं सकती । हम लोगों को तो और जल्दी घर लौट जाना चाहिए था ।

र०—[सोचती है ।] खाने पीने की तकलीफ़ ! तभी तो मैं कहती हूँ... सारा जीवन परिवार की चिंता में... फिर जीवन में काम क्या करोगी ? परिवार की चिंता, परिवार की दासता ।

क०—यह दासता नहीं है रजनी ! माता पुत्र को, बहिन भाई को, स्त्री

पति को खिलाने में दासी नहीं हो जाती। यह तो ईश्वर की दी हुई ममता है। यह तो ईश्वर का वरदान है।

र०—[सोचती हुई] पुत्र...भाई...पति [सोचती है ।]

[बाहर से आवाज़ आती है । रजनी और कनक सुनती हैं]

कनक...ओ कनक.....अरे सुनो ऐ आदमी ..रजनी देवी का टेंट यही है ?

मंगल की आवाज़—जी हाँ, सरकार।

बाहर की आवाज़—तो कनक है अंदर ?

मंगल की आवाज़—जी हाँ, सरकार।

बाहर की आवाज़—कहा कि आनंद बुलाने आये हैं।

क० —[उद्विग्नता से] मेरे भाई की आवाज़ !

र०—तुम्हारे भाई की आवाज़ ! तुम्हारे भाई यहाँ कैसे ?

क०—वे ही तो हम लोगों को लाने आये हैं। चाचाजी यहाँ से सीधे जा रहे हैं नैनीताल। उन्होंने भाई साहब को लिखा कि तुम आकर सब को ले जाओ। वही आये हैं।

[मंगल का प्रवेश]

म०—आनंद बाबू आये हुए हैं।

क०—बुला लूँ भीतर ?

र०—[अव्यवस्थित होकर] हाँ, हाँ, बुला लो।

क०—उन्हें भेज दो भीतर ! [मंगल जाता है ।] भाई साहब बहुत अच्छे हैं। शिकार खेलने का शौक। कहते हैं—पढ़ना और शिकार खेलना यही उनकी जिंदगी के दो पहिये हैं।

[आनंद किशोर का प्रवेश । २४ वर्ष का नवयुवक है, सुन्दर और

सुडौल । मर्सराइज्ड सिल्क का निकर और नीली मर्ज का गरम कोट पहने हुए है । सिर पर एक स्कार्फ । हाथ में ग्लव्स और पैरों में पेशावरी स्लीपर । चलने में निश्चयात्मकता । बोलने में मधुर और दृढ़ । शिष्टाचार के नियमों में सधा हुआ । व्यवहार में सुरुचि और उत्साह । आत्म-विश्वास में पूर्ण और प्रसन्न तथा हँसमुख । बोलने में तत्पर और स्पष्ट । उसके हाथ में बंदूक और कंधे से कमर तक लटकती हुई कार्ट्रिजेज का बैल्ट ।]

आ०—मैं अंदर आ सकता हूँ ?

क०—आइए भाई साहब ।

[आनंद आगे बढ़ आता है । कनक परिचय कराती है ।]

क०—मेरे भाई श्री आनंदकिशोर जी, अंग्रेजी, एम० ए० के विद्यार्थी और कुमारी रजनी देवी बी० ए० ।

[दोनों परस्पर नमस्कार करते हैं ।]

आ०—आपके दर्शन कर प्रसन्नता हुई ।

र०—मुझे भी ।

आ०—धन्यवाद ।

र०—बैठिए ! कुर्सी लीजिए । अह, मैं मंगल को पुकारती हूँ ।

आ०—नहीं, मंगल की क्या ज़रूरत, यह तो मैं ही कर सकता हूँ ।
[कोने से कुर्सी उठाकर सामने रखता है ।] आप बेत वाली कुर्सी पर बैठ जायँ ।

र०—नहीं, मैं ठीक हूँ ।

आ०—नहीं, आप ही बैठें । हम लोग तो जंगली जानवरों की तरह घूमने फिरने वाले हैं । हमारा क्या !

[रजनी के लिए बेत को बड़ी कुर्सी रख रजनी की कुर्सी अपने लिए रखता है ।]

र०—आपके लिए जलपान मँगवाऊँ ?

आ०—नहीं, धन्यवाद। मुझे अभी कुछ नहीं चाहिए।

क०—भाई साहब का जलपान किसी दूसरी चीज़ से होता है। क्यों भाई साहब, आज कितनो का उद्धार किया ?

आ०—कनक, आज कुछ भी हाथ नहीं आया। आठ मील घूमने पर भी बंदूक कंधे से उतर न सकी। मालूम नहीं, परिदो ने भी आर्यसमाजियों की तरह संगठन कर लिया था। कोई मिला ही नहीं। रजनी देवी माफ़ कीजिए, मैं शिकार से लौटा ही था कि मालूम हुआ, कनक यहाँ हैं। मुझे सीधे यहीं चले आना पड़ा। मैं कपड़े भी नहीं बदल सका।

र०—तो हानि क्या है ? शिकारी की पोशाक ठीक नहीं होती।

आ०—धन्यवाद।

क०—लेकिन एक बात तो मैं कहूँगी भाई साहब। यहाँ साहित्य और समाज की बातें होती हैं। यहाँ शिकारी की पोशाक में आना मना है। यह सरस्वती-मन्दिर है।

आ०—[क्रश पर पड़े हुए फूलों को देखते हुए] ये बिखरे हुए फूल इस बात का समर्थन करते हैं। लेकिन मेरी वेबसी देखते हुए रजनी देवी जी क्षमा करेंगी।

र०—इसमें क्षमा की कौन सी बात ? यह तो सब कनक की शैतानी है। मुझे यों ही बनाती है।

आ०—नहीं, रजनी देवी जी, आज सुबह कनक आपकी बहुत तारीफ़ कर रही थी। कहती थी कि आपने समाज और साहित्य पर इतना विचार किया है कि आप आसानी से कुछ पुस्तकें लिख कर समाज को ठीक रास्ते

पर ला सकती है। वह कहती है कि यों मैं उनसे चाहे हँसी कर लूँ लेकिन दिल से तो तारीफ ही करती हूँ।

र०—कनक मेरे जीवन के बिल्कुल पास आ गयी है। मुझ पर उसका प्रेम होना स्वाभाविक है।

आ०—अच्छा, और सुनिए। आपके विचार जान कर मुझे बहुत खुशी हुई। मैं भी बहुत कुछ इन्हीं विचारों को मानने वाला हूँ। समाज ने लोगों को अंधा कर दिया है। पुरानी परंपराओं के सामने मनुष्य की सच्ची भावनाएँ उभरती ही नहीं हैं। वह श्रृंखल बंद कर पुराने रास्ते पर चल रहा है।

क०—आप दोनों महामहोपाध्याय हैं। मेरी समझ में तो आप लोगों की बातें आती ही नहीं हैं।

आ०—अभी तुम बच्ची हो। इन बातों को क्या समझो? रजनी देवी की भाँति साचो, समझो, तो कुछ समझ में आये।

क०—मेरे मन में तो सुख दुःख की जो बातें आप से आप आ जाती हैं, वे ही अच्छी लगती हैं।

आ०—ठीक है, लेकिन दुनियाँ श्रव बहुत आगे बढ़ चुकी है कनक। मैंने तुम्हें इतने बार समझाया कि तुम वेल्स पढ़ लो तो तुम ठीक तरह से सोचने लगे लेकिन तुम्हें पढ़ने की फुर्सत ही नहीं। हाँ, मैं एक बात ज़रूर कहूँगा रजनी देवी! मेरी कनक को अपनी ज़िम्मेदारी की सारी बातों पर पूरा अधिकार है और फिर इसके साथ बैठ कर कोई उदास रह ही नहीं सकता। इतनी हँसी की बातें करती है कि मालूम होता है—आपके पास एक निर्मल नदी बह रही है ..

क०—जिसमें भाई साहब डूबकर भी बच जाते हैं! [स्वर बदलकर]
भाई साहब, ये बातें रहने दीजिए। आप किसलिए मेरी खोज में आये थे?

आ०—ओह ! मैं भूल ही गया कनक ! तुम्हें माताजी याद कर रही थीं ।

क०—तब तो मुझे जाना चाहिए । रजनी, अब मैं जाऊँगी ।

र०—कुछ देर और ठहरो न ।

क०—जाने किस काम के लिए माताजी बुला रही है ।

र०—जाओगी ?

क०—हाँ, और सुनो अब शायद हम लोग न मिल सकें । हम लोग सुबह पाँच बजे ही यहाँ से जा रहे हैं । तुमसे शायद मिलना न हो सके । यह लो, मेरी भेंट—[माला पहनाती है ।]

र०—तुम्हारी याद मुझे भूल नहीं सकती कनक ! तुम मुझे याद रखोगी ?

क०—तुम्हें कैसे भूल सकती हूँ रजनी ? तुम्हें भूलना अपने आपको भूलना है ।

आ०—अच्छा, तो मैं भी चले । [उठ खड़ा होता है ।]

र०—आप बैठिए न, आपको कौन-सी जल्दी है ? आपकी बातें मुझे बहुत अच्छी लग रही हैं । आप थक भी गये होंगे !

आ०—धन्यवाद । अच्छा कनक, मैं थोड़ी देर बाद आता हूँ । [रजनी से] आपका नौकर है ?

र०—हाँ, हाँ, मैं उसे कनक के साथ भेज देती हूँ [पुकार कर] मंगल !

मं०—जी, सरकार ।

र०—ज़रा कनकजी के साथ जाओ । इन्हें इनके डेरे तक पहुँचा दो ।

मं०—बहुत अच्छा !

अ०—रजनी ! मेरी गलतियाँ भूल जाना और... [कुछ कह नहीं सकती ।]

र०—अरे कनक, तुम मेरी प्यारी बहिन हो। तुम कैसी बातें करती हो !
[कनक मौन नमस्कार करके जाती है । रजनी उसे दरवाज़े तक जाकर देखती है ।]

र०—[लौटते हुए] कनक बहुत अच्छी है । मैं उसके प्रेम में अपने आपको भूल गई थी । मैंने समझा था कि संसार में मेरी एक बहिन भी है ।

आ०—यह आपकी उदारता है । नहीं तो इस दुनियाँ में कौन किसे मानता है ! सब अपने मतलब में प्रेम करते हैं ।

र०—आप कितनी सच्ची बात कहते हैं । मैं भी यही सोचती हूँ लेकिन कनक को प्यार करने में मेरी उदारता नहीं, यह तो कनक का अधिकार है ।

आ०—[बैठते हुए] आप इसके बाद मिलती तो रहेगी कनक से ।

र०—मैं कह नहीं सकती ।

आ०—क्यों ?

र०—मैंने अपने जीवन का रास्ता ही बदल दिया है ।

आ०—ओह, रास्ता बदल दिया है ? मैं जान सकता हूँ ?

र०—आप मेरे विचारों में बहुत कुछ सहमत हैं इसलिए मैं आपके सामने अपने हृदय की बात रख सकती हूँ ।

आ०—हाँ, हाँ, ज़रूर ।

र०—आप जानते हैं, मैंने आपको रोकने का साहस क्यों किया ! मैं उस समय बिल्कुल अकेली हूँ किन्तु मैं आपसे मिल रही हूँ । शायद समाज की कोई दूसरी लड़की इन परिस्थितियों में आपसे न मिलती ।

आ०—मैं आपसे सहमत हूँ ।

र०—मैंने सब परिस्थितियों का बंधन तोड़ दिया है । मैं बिल्कुल अकेली हूँ ।

आ०—आपके परिवार के लोग ?

र०—मेरे परिवार में है ही कौन ? माँ बचपन ही में चल बसी थी । भाई-बहन कोई है ही नहीं । पिताजी है, वे भी आज जालंधर चले गये ।

आ०—हाँ, कनक कह रही थी कि आप पिताजी के साथ हैं । फिर पिताजी आपको छोड़ कर चले गये ?

र०—वे जा तो नहीं रहे थे, लेकिन मैंने ही उन्हें चले जाने को कहा । मैं उनका आदर करती हूँ पर उनके विचारों से सहमत नहीं हूँ ।

आ०—क्या मैं पूछ सकता हूँ कि उनके विचार कैसे हैं ?

र०—वे मुझे समाज के बंधन में बाँधना चाहते थे । मैंने इसमें इन्कार कर दिया । मुझे समाज का बंधन पसंद नहीं है आनंदजी । हमारा समाज बहुत गिरा हुआ है । मैं उस समाज से दूर रहना चाहती हूँ ।

आ०—इसमें शक नहीं कि समाज के बहुत से बंधन तुरे हैं जो मनुष्य को आगे बढ़ने से रोकते हैं ।

र०—और मैं समझती हूँ कि इन बंधनों ने ही हमारे समाज को खराब कर रखा है ।

आ०—रजनी देवी, आपके इन विचारों को सुनकर तो मुझे जात होता है कि आपने हमारे समाज की दशा को ठीक पहिचाना है । और आप ही आगे बढ़ेंगी समाज को उठाने के लिए । मैं आपसे बिलकुल सहमत हूँ ।

र०—और मैं कहती हूँ आनंदजी कि हमारे समाज का गिरना उतना तुरा नहीं है जितना कि गिरकर उसका न उठना है । मनुष्य अभीतक का सोचा हुआ रास्ता क्यों नहीं बदल देता ? वह समाज की चिंता क्यों करता है ? हवा का भी कोई समाज है ? सूरज की किरणें भी किसी बंधन में हैं ? आग भी रस्सी में कसी हुई है ?

आ०—रजनी देवी, यह बात तो सही है लेकिन आप यदि ज़िन्मा करें तो मैं एक बात कहूँ कि आप सब कुछ कर सकती हैं लेकिन समाज को

छोड़ना एक बड़ी भूल होगी। आप सब कुछ करें लेकिन समाज को न छोड़ें।

२०—जब आप मनुष्य के स्वतंत्र होने पर मुझसे सहमत हैं तो समाज तो उस स्वतंत्रता का बंधन है।

आ०—सही है लेकिन मनुष्य एक समाज का प्राणी है। वह राबिसन कृसो बनकर बहुत दिनों तक नहीं रह सकता। उसे समाज के बीच रहना ज़रूरी हो जाता है। जब वह सभ्यता की चोटी पर चढ़ने की कोशिश कर रहा है तो वह अकेला कैसे रह सकता है? उसे अपना बुराईयां से लड़ना है और अपनी कमजोरियाँ को दूर फेंकना है। क्या आप यह नहीं मानती कि आप इग कशमकश से भाग नहीं सकती? इस विज्ञान की उन्नति के ज़माने में जब संसार का एक भाग दूसरे भाग से विजली के हल्के करंट से भी जुड़ गया है तब आप इस बढते हुए परिवार से भाग कर कहीं नहीं जा सकती और अगर आप एक मिनट के लिए चुपचाप बैठी कि समाज अपने शरीर से आपको नाखून की तरह काटकर फेंक देगा। समाज की हानि नहीं होगी, आप कहीं की नहीं रहेगी।

२०—और अगर समाज गुलत रास्ते पर हो तो ?

आ०—गुलत रास्ते पर होते हुए भी समाज की ताकत कम नहीं है। आप में शक्ति हो तो समाज से लड़ जाइए। एक नया 'सोशल आउटर' सामने रखिए। लेकिन समाज से मुँह मोड़कर एकांत में चले जाना तो अपनी हार स्वीकार करना है। यह तो एक 'एस्केप' [escape] है। आप भाग कर छिपना चाहती हैं जिससे समाज की ताकत का सामना आपको न करना पड़े। मैं तो समझता हूँ आपको पूरी ताकत से इसका सामना करना चाहिए। मेरे सामने भी यही सवाल है। मैं समाज को एक बिगड़ा हुआ जानवर समझता हूँ। अगर मैं इसे पुचकार कर अपने वश में नहीं कर सकूँगा तो इसे ऐसी गोली मार दूँगा कि वह तकलीफ़ से कराहने लगे। मैं इससे अगर दूर

भागूंगा तो यह मुझे डरा हुआ मान कर, लपक कर मेरा पीछा करेगा और मुझे बुढ़ी तरह काट लेगा। आप देखती हैं ये निशान ? [कलाई दिखाने हुए] ये एक भालू के पंजे हैं। शिकार करते समय मेरा पैर एक गढ़े में चला गया और मैं पीछे गिरा तो भालू ने समझा कि मैं भाग रहा हूँ। उसने मुझ पर हमला कर ही दिया। लेकिन दूसरे ही क्षण मैंने अपने सघे हुए निशाने से उसे खत्म कर दिया।

र०—आप बहुत बहादुर हैं !

आ०—धन्यवाद, लेकिन आप सोच लीजिए कि यह समाज आपके यहाँ चले आने पर आप पर हमला करेगा। आपके सामने न जाने कितनी समस्याएँ खड़ी करेगा। मुमकिन है आप पर कलक भी लगा दे।

र०—मैं इसकी चिंता नहीं करती।

आ०—आपके चिंता न करने से वह चुप तो रहेगा नहीं। समझेंगा वह जो कुछ कह रहा है, सब सही है। तभी तो आप चुप हैं। आप इसे एक तमाचा नहीं मार सकती ? जो आदमी समाज को तमाचा मार सकता है, समाज उसके सामने कुत्ते की तरह डुम हिलाने लगता है। ऐसा है यह जानवर !

र०—लेकिन यह जानवर रोगी है, इसमें कीड़े पड़ रहे हैं। इसका अंग अंग सड़ रहा है। आप जानते हैं, सड़ी हुई चीज को पास रखने से बीमारी फैलती है। मैं ऐसे सड़े हुए समाज को क्यों अपने पास जगह दूँ ? इसमें देश के नौजवान लड़कों को आगे बढ़ाने की ताकत नहीं है। इसमें किसानों की हालत सुधारने का माहा नहीं है। इसमें लड़कियों का विवाह करने की पसंदगी नहीं है। सब कुछ ऐसा हो रहा है जैसे भट्ठी की चिमनी में घुट-घुटकर धुआँ निकल रहा हो—जिस में देखने वालों की आँखें भी धुंधली हो रही हैं।

आ०—तो इस भट्टी में दस मन कोयला जोंक दीजिए जिसमें आग की लपट निकल पड़े और भट्टी की सारी अधजली चोड़ें एक बार ही जल जायें । चुप बैठने से तो धुआँ कलेजे तक भर जायगा और आप साँस भी न ले सकेंगी ।

र०—आपकी बात बहुत हद तक सही है आनंद जी ! लेकिन एक बात है । यह समाज किसी भी नये विचार को अपने भाले की नोक जैसी उगली उठाकर उसी समय नष्ट कर देता है क्योंकि यह अपनी ही तरफ देखता है । अपने से बाहर देखने के लिए इसके पाम आँखें ही नहीं है । फिर यह बूढ़ा समाज अब भी कितना स्वार्थी है ! इसकी रुपयो पैसो वाली नीति मुझे पसंद नहीं । इस जीवन में ऊपर उठकर इसका आदर्श ही नहीं है । मामूली सुखों में वह हँसता है और थोड़े में दुःख से ही रोने लगता है ।

आ०—यदि सच पूछा जाय तो जीवन का आनंद संसार से लड़ने-भिड़ने में ही है जिसमें कभी हँसना पड़ता है, कभी रोना पड़ता है । सुख दुःख तो उसे नहीं होते जा मुर्दा है । पड़ा है ज़मीन पर । कोई उम्र पर रो ले, या हँस ले । कोई उसे फ़लो की सेज पर सुला दे, या कोंटों पर डाल दे । उसमें जीवन नहीं है तभी तो ऐसा है ।

र०—आनंद जी ! मैं मनुष्य के हृदय को सुख-दुःख से ऊँचा रखना चाहती हूँ । लहर की तरह बह जाना मनुष्य को शोभा नहीं देता । उसे होना चाहिए चक्रान की तरह दृढ़ और अटल । मैं चाहती हूँ कि मनुष्य स्वतंत्र हो । वह अपनी इच्छा में किसी का गुलाम न हो । अगर वह गुलाम हो तो उसमें और पालतू जानवरों में अंतर ही क्या रहा ?

आ०—रजनी देवी, मैं भी मानता हूँ कि मनुष्य स्वतंत्र हो लेकिन यदि वह अपने सिद्धांतों का पक्का है तो वह समाज को तोड़-फोड़ कर फिर से बनाये, नये सिद्धांत रचे, नये विचार सोचे । ईश्वर देखे कि उसने

मनुष्य को दुनिया में कीड़े की तरह नहीं भेजा। भैंसा है एक गठनेवाले के रूप में। मनुष्य खुद ईश्वर बने रजनी देवी, वह अपनी जिम्मेदारी समझे।

२०—यहाँ हम दोनों सहमत हैं आनंदजी। अंतर सिर्फ इसी बात में है कि आप उन विचारों को रखते हुए समाज चाहते हैं और मैं एकात चाहती हूँ। समाज दुर्बल है, बच्चे की तरह। उसमें शासित होना मुझे अच्छा नहीं लगता। और फिर सच पूछिए तो पश्चिम की सभ्यता मुझे पसंद ही नहीं है। यह सभ्यता भारतीय नहीं हो सकती। जिस तरह गुलाब का फूल कमल नहीं हो सकता और कमल का फूल गुलाब नहीं हो सकता उस तरह यह पश्चिमा सभ्यता भी भारतीय नहीं हो सकती। इससे हमारे शरीर को सुख भले ही मिले पर आत्मा को सुख कभी नहीं मिल सकता।

आ०—रजनी देवी, आप विदुषी हैं, आपने बहुत ऊँची बात कही है। मैं तो अब आपका आदर और भी अधिक करता हूँ आपके इन विचारों के लिए।

२०—धन्यवाद। इसीलिए मैं इस सड़ते हुए समाज से हटकर यहाँ चली आई हूँ। अब जीवन के दिन यहीं बिता देना चाहती हूँ।

आ०—लेकिन रजनी देवी, मैं आपसे प्रार्थना करूँगा कि आप समाज को चलकर बतलाएँ कि आपने इस सभ्यता में बढकर भी इसके दोषों को कितनी अच्छी तरह से पहचाना है। आपकी आवश्यकता हमारे समाज का है। संसार के इतिहास को देखिए, जिन जिन विचारों ने सत्य खोज कर निकाले हैं उन्होंने समाज में आकर उसका प्रचार किया है। गौतम बुद्ध, ईसा को देखिए, वे एकात-सेवी होकर नहीं रहे।

२०—ओह, आप कितने बड़े-बड़े महात्माओं के नाम ले रहे हैं। मेरे विचारों के सिलसिले में इनके नाम जोड़कर इन्हें अपवित्र न कीजिए, आनंदजी।

आ०—आपके विचारों की पवित्रता में किसे विश्वास नहीं होगा ? यह तो विचारों का संसार है । यहाँ विचार से ही आदमी छोटे और बड़े होते हैं ।

र०—लेकिन मेरे विचार में अभी ताकत कहाँ आई है ?

आ०—यह ताकत समाज के भीतर जाकर ही आयेगी । समाज की समस्याएँ समाज में रह कर ही हल की जा सकती हैं । समाज से बाहर रह कर नहीं ।

र०—लेकिन साधना के लिए एकांत की आवश्यकता है आनंदजी ।

आ०—आप भी ठीक कहती हैं, रजनी देवी ! जैसी आपकी इच्छा, लेकिन आप मेरे दृष्टिकोण पर भी विचार करें ।

र०—नहीं, आप भी ठीक कहते हैं आनंदजी । आप जैसा विद्वान् मुझे अभी तक नहीं मिला । कितना अच्छा होता यदि हम लोग अधिक मिल सकते ।

आ०—रजनी देवी, आप मुझे इतना आदर दे रही हैं इसके लिए धन्यवाद लेकिन हम लोग कल ही जा रहे हैं ।

र०—ओह, यदि मुझे ज्ञात होता कि आप इतने ऊँचे विचार के हैं तो मैं कनक से कह कर उसे और आप लोगों को और कुछ दिन रोकती । सच ! आपसे मिलकर प्रसन्नता हो रही है ।

आ०—मुझे भी आज बहुत आनंद हो रहा है । आपने मेरे नाम को सार्थक कर दिया । मैं अभी तक बहुत-सी पढ़ी-लिखी लड़कियों से मिला पर आपके समान बुद्धि मैंने किसी में भी नहीं पाई । आपसे मिल कर मैं समझ रहा हूँ कि मेरा यहाँ आना सफल हुआ ।

र०—आप मुझे लज्जित कर रहे हैं । आपके बहुत से विचार मेरे

मस्तक मे घूम रहे है और मे प्रभावित भी बहुत हुई हूँ । आप पत्रों से तो मुझे अपने विचार लिखते रहेंगे ? मेरा पता ..

आ०—मुझे मालूम है । अच्छा, आज्ञा दीजिए ।

र०—आपको बहुत देर हो गई । मुझे इसके लिए क्षमा कीजिए ।

आ०—मुझे क्षमा कीजिए कि आपको अपने कमों से इतनी देर तक रोक रक्खा !

र०—आपके मिलने से बढ़कर और कौन काम होता ?

आ०—[उठता है और कोने में अपनी बटूक उठाता है ।] आज यह यों ही रही बोज़ बन कर—

र०—हिन्दू स्त्री की तरह ?

[दोनों हँस पड़ते हैं ।]

आ०—कनक झूठ कहती थी कि आपको हँसी नहीं आती ।

र०—कनक बेचारी बहुत अच्छी लड़की है ।

आ०—यह आप जाने । अच्छा, नमस्कार ।

र०—[रजनी नमस्कार के लिए हाथ उठाती है । रोककर] सुनिए, आप एक बात याद रखेंगे ?

आ०—क्या ?

र०—कनक से मेरा बहुत बहुत प्यार कहे ।

आ०—[हँसकर] ज़रूर । [नमस्कार करके जाता है, रजनी कुछ देर तक मौन खड़ी साचती है । फिर उस दिशा की ओर देग्वती है जिधर आनंद गया है । एक क्षण बाद पुकार कर] मंगल !

म०—जी, सरकार ।

[मंगल आता है ।]

र०—आनंद बाबू जो अभी यहाँ आये थे, गये ?

म०—जी हाँ, वह जा रहे हैं । [नैपथ्य में मंकेत]

र०—देखा, उन्हें जरा वुलाना ।

म०—बहुत अच्छा । [जाता है]

र०—[मोचती हुई] आनंदजी—[फिर कोने के टेबुल की ओर जाती है और कुछ कागज़ ढूँढ़ने लगती है । कुछ कागज़ लेकर आती ही है कि आनंद का प्रवेश ।]

आ०—आपने मुझे वुलाया था ?

र०—क्षमा कीजिए । मे चाहती थी कि आप मेरे लिखे हुए कुछ विचार अपने साथ ले जायें और इन पर अपनी राय लिख कर भेजने की कृपा करें ।

आ०—जस्स । आपने मुझे इस योग्य समझा इसके लिए धन्यवाद ।

र०—नहीं, आप सब तरह से योग्य हैं । [कागज़ के पृष्ठ देती है ।]

आ०—अब जाऊँ ? नमस्कार ।

र०—[कुछ लज्जा से] नमस्कार ! देखिए रात बहुत अंधेरी है ।

आ०—शिकारी अंधेरे से नहीं डरता ।

[आनंद का प्रस्थान ।]

र०—कनक और आनंद... कनक और आनंद. कितने अच्छे ! कितने अच्छे ! [कमरे में चारों ओर देखती है । सितार पर दृष्टि पड़ती है । उतारती है । उसके टूटे तारों को फिर से खींचकर खूंटियों से बाँधती है । ठीक होने पर एक तार बजा देती है । फिर सितार को उठा कर जहाँ बंदूक रखी थी वहीं रख देती है । उसे देखती है । फिर नौकरानी को पुकारती है ।] केसर !

क०—[भीतर से] आई बीबी जी !

[केसर आती है ।]

र०—केसर ! कनक भी गई और उसके भाई आनंद भी ।

के०—हाँ बीबी जी, सुबह से ही उनके चलने की बात थी ।

र०—केसर, कनक बहुत अच्छी है न !

के०—हाँ, बीबी जी ।

र०—इन पंद्रह-बीस दिनों में तो वह बिल्कुल ही हिलमिल गई थी । वह तो हम लोगों के आने से पहले ही यहाँ था ।

के०—हाँ, बीबी जी ।

र०—केसर ! कनक के भाई को पढ़ना है न ? उन्हें इम्तहान में बैठना है ।

के०—इम्तहान क्या बीबी जी ?

र०—इम्तहान—एँ... एग्जामिनेशन... परीक्षा, परीक्षा ।

के०—क्या बीबी जी ?

र०—कुछ नहीं । अब हम लोग यहाँ अकेले रह गये, सबसे अलग ।

के०—हाँ, बीबी जी ।

र०—तुझे डर तो नहीं लगता ?

के०—नही, बीबी जी ।

र०—हाँ, डरने की क्या बात है ! हम लोगों को अकेले रहने की आदत डालनी चाहिए । मंगल कहाँ है ?

के०—बाहर है, बीबीजी • बुलाऊँ ?

र०—हाँ, बुलाओ ।

[केसर जाती है ।]

र०—[फूलों की माला जो टेबल पर पड़ी है उसे हाथ में लेते हुए]
कनक, पिताजी . आ—नं [दूरा नहीं कह पाती कि केसर का मंगल के साथ प्रवेश ।]

र०—मंगल ।

म०—जी, सरकार ।

र०—मंगल ! बाबूजी जाते वक्त कुछ कह गये हैं ?

मं०—हाँ, सरकार । कह रहे थे जी कि जैसे ही तबियत ऊबे, हमें ख़बर देना और बीबीजी का ध्यान रखना । कोई तकलीफ न होने पावे ।

र०—अच्छा !

म०—और जी अपने साथ आपकी तस्वीर भी ले गये हैं । और जाते-जाते उनकी आँखों में आँसू भी थे जी ।

र०—[सोचते हुए] पिताजी मेरा फोटो ले गये है । ...पिताजी...
[रुक कर] मंगल !

म०—जी, सरकार ।

र०—तुझे डर तो नहीं लगता ?

म०—नहीं, सरकार । काहे का डर जी ? कौन बात का डर ?

र०—हाँ, वही तो मैं कहती हूँ । कितना बजा होगा ?

म०—दस बजते होंगे जी ।

र०—अच्छा, तुम अब जाओ । ख़बरदारी से सोना ।

मं०—जी, सरकार ।

[जाता है ।]

र०—केसर, तुम अंदर के कमरे में सोना ख़बरदारी से । समझी, मैं यहाँ सोऊँगी ।

के०—दूध और फल नहीं खायेंगे बीबी जी ?

र०—नहीं केसर, मुझे कुछ नहीं चाहिए ।

के०—कुछ तो खा लीजिए, बीबी जी ।

र०—मैं कह चुकी केसर, मैं कुछ नहीं खाऊँगी

के०—जी, बीबी जी ।

र०—जाओ तुम ।

के०—अच्छा, बीबी जी ।

[जाती है ।]

र०—[गहरी साँस लेकर] जीवन का पहला अनुभव । अकेली, सब से अलग । मैंने कहा...साधना के लिए एकांत की आवश्यकता है..... आनंद बाबू ने कहा—समाज एक बिगड़ा हुआ जानवर है !—अगर मैं इस जानवर को पुचकार कर वश में न कर सकूँगा तो ऐसी गोली मार दूँगा कि वह तकलीफ़ से कराहने लगे । कितनी शक्ति.....कितनी आत्म-दृढ़ता । मैं समाज में चली जाऊँ...? जाऊँ . ? नहीं नहीं, मैं यहाँ रहूँगी..... यही रहूँगी । यहीं रहूँगी । [सोचते हुए पिताजी के तैल-चित्र के पास जाकर] पिताजी, मैं यही रहूँगी । मैं दुनिया को दिखलाना चाहती हूँ कि सुख कहाँ और किसमें है । लेकिन आपकी आँखों में आसू पिताजी ! [भावावेग से हट जाती है और अँगीठी के पास जाती है । बैठकर सोचते हुए] आ...नं...द...ओह ! कैसा जी हो रहा है ! [सोचती है । पुस्तक पढ़ने की कोशिश करती है । व्यर्थ पुकार कर]—केसर !

के०—[भीतर से] जी, बीबी जी ।

[आती है ।]

के०—आप सोई नहीं बीबी जी ?

र०—नींद नहीं आ रही है, केसर । तू कुछ बातें कर सकती है ?

के०—जी बीबीजी—पर सो जाइए । रात बहुत हो रही है, नहीं तो तबियत खराब हो जायगी ।

र०—नहीं केसर, कुछ तबियत खराब नहीं होती ! [रुक कर] रात बहुत अँधेरी है ।

के०—जी बीबी जी ।

र०—इस रात में भी लोग आते जाते हैं ।

के०—सब सो रहे हैं, बीबी जी । आप सो जाइए ।

र०—अच्छा केसर, तू जा । मैं भी सोने की कोशिश करती हूँ ।

[केसर जाती है—कुछ क्षण तक रजनी अँगोठी के पास बैठी रहती है । फिर धीरे धीरे उठ कर लैंप की बत्ती मट करती है । लेंट जाती है पर एक क्षण बाद पुकार उठती है ।] केसर ।

के०—जी, बीबी जी [आलस्य भरा स्वर ।]

र०—पीछे का परदा ठीक तरह से बाँध दिया है ?

के०—जी, बीबी [मट स्वर]

र०—तू सो जा ।

[रात का सन्नाटा । हवा जोर से बहती है । एक मिनट तक शांति रहती है फिर रात के अधकार में से एक चीत्कार आती है । ‘दौड़ो दौड़ो, बचाओ’ । रजनी चौक कर उठती है । तेज़ी से लैंप की बत्ती तेज़ करती है । और पुकारती है—मंगल ! मंगल !]

[केसर और मंगल का छबड़ाये हुए प्रवेश ।]

र०—यह कैसी आवाज है ?

म०—कोई आवाज़ तो नहीं जी ।

के०—बीबी जी, आप सोते में तो नहीं चौक पड़ी ? यहाँ कोई आवाज ...नहीं है ।

र०—[अपने ऊपर हँस कर] मैं चौक उठी ? अच्छा, तुम लोग जाओ, मेरा मन न जाने कैसा हो रहा है ! [दोनों जाते हैं ।]

[रजनी लैंप की बत्ती कम करने के लिए जाती है परतु बिना किये ही लौट आती है । एक क्षण बाद फिर आवाज़ बिल्कुल पास आ जाती

है ।] “दौड़ो दौड़ो बचाओ ।” [भाग दौड़ की आवाज़ फिर चीन्कार !]
 ओह मेरी शशि ..मेरी शशि [रजनी फिर चौंक उठती है । घबराहट से
 पुकारती है] मंगल...मंगल

[मंगल और केसर दोनों का फिर प्रवेश ।]

म०—सरकार कोई रो रहा है । आप सच कहती थी जी ।

के०—बीबीजी, किसी ने बेचारे ग़रीब को मार डाला ।

र०—यही पास ही है । कौन है . ओह...अब क्या होगा ? मंगल
 देखो, कौन है, उसे बचाओ ।

[फिर वही आवाज़ ‘मेरी शशि...मेरी शशि ।]

र०—मंगल, यहीं अपने डेरे के पास है, देखो कौन है । बत्ती ले जाओ
 [मट्क से रिवाल्वर निकालती है ।] मेरे पास रिवाल्वर है । तुम
 बाहर जाओ... ।

मं०—जी, सरकार ।

[जाता है ।]

र०—केसर !

के०—बीबी जी !

र०—यह क्या हो रहा है ! बाबू जी के जाने के बाद ही यह सब
 क्या हो रहा है ?

[रिवाल्वर हाथ में लिये बाहर दरवाज़े तक जाती है ।]

के०—बीबी जी, आप बाहर न जायँ ।

र०—[लौट आती है ।] केसर यह हो क्या रहा है ?

के०—बीबी जी, किसी का बच्चा..... ।

[बाहर से आवाज़—‘चलो बुढ़े, अंदर चलो—डेरे में । ’ बुढ़े की
 कराहती हुई आवाज़—‘मुझे कहीं न ले चलो...मैं कहीं न जाऊँगा...’

मेरी शशि...मेरी शशि ।' फिर मंगल की आवाज़—'चलो भी...फिर देख लेना । सरकार के पास चलो ।' मंगल का एक बुढ़े आदमी के साथ प्रवेश । बुढ़ा लँगडाला हुआ आता है । उसके घुटने के पास खून के धब्बे । आते ही वह ज़मीन पर गिर पड़ता है । रजनी को देखकर जैसे कराह कर बोल उठता है—] ओह, वे लोग ले गये—उस शशि को ले गये !

र०—[पास आकर बैठती हुई] किसे ले गये ? ऐ—किसे ले गये ?

बु०—ले गये—मेरी शशि को ले गये—निर्दयी, पापी, डाकू..... ले गये !

र०—मंगल ! तुम बाहर पहरा दो । देखो, काँट आये नहीं ।

बु०—अब कौन भायेगा ! ओह, भाग गये बदमाश . भाग गये ! शशि को ले गये ! ओह, कोई ला दो मेरी शशि को .. !

र०—ठहरो, ठहरो...बाबा...ठीक बतलाओ...कौन शशि ?

[बंदूक की आवाज़ आती है ।]

बु०—ओह, किसी ने बंदूक...बंदूक...मैं जाऊँगा ! जाऊँगा ! शशि...शशि.. ओह, मुझे बचाओ ।

र०—हाँ, हाँ, तुम्हें कोई कुछ नहीं कर सकता । मेरे पास यह रिवाल्वर है...पहिले बतलाओ—कौन शशि ?

बु०—[रिवाल्वर देखकर] हाँ, हाँ बतलाता हूँ.... .

मेरी बेटी...उसे उठा ले गये...बचा लो, मेरी शशि को !

र०—शशि का उठा ले गये ?

बु०—हाँ, मेरी शशि को... !

र०—कौन उठा ले गया ?

बु०—बदमाश ..छीन ले गये ! मेरे घुटने पर लाठी की चोट की और

जब मैं गिर पड़ा तो वे लोग उसे उठा ले गये ! . मेरी शशि...मेरी शशि... ! [उठ कर बैठ जाता है ।] बचा लो, मेरी शशि को...

र०—कहाँ ले गये है वे तुम्हारी शशि को ? ..

बु०—जाने कहाँ ले गये ! बहुत दिनों से वे लोग मेरे घर आते थे । [दर्द से कराहता है] . ओह ! कहते थे, शशि की मेरे साथ शादी कर दो । मैंने एक दिन फटकार दिया आज वे लोग गिरोह बनाकर आये[कराहते हुए] मेरी शशि को उठा ले गये... !

र०—[शून्य में देखती हुई] ओह ! स्त्री अपनी रक्षा भी नहीं कर सकती ! . . . [बुढ़े से] वे लाग किस तरफ गये... ?

बु०—अंधेरे में कुछ दिखलाई नहीं दिया ! जाने कहाँ ले गये ! मैं भी जाऊँगा मैं भी जाऊँगा !

र०—अरे, तुम्हें चोट लगी है ! तुम कहाँ जाओगे ?

बु०—जाऊँगा... जाऊँगा, जहाँ मेरी शशि है ! [भागने की चेष्टा करता है ।]

र०—अरे, लोग तुम्हें मार डालेंगे . ठहरो, ठहरो ।

बु०—नहीं - नहीं . मर जाऊँ तो अच्छा है ! मेरी शशि...मेरी शशि ! मेरी एक ही लड़की शशि. '

र०—[दुहराती हुई] एक ही लड़की शशि . !

बु०—[रजनी की बात पर ध्यान न देने हुए] शशि, बेटा, मैं भी आता हूँ । बदमाशों को मार डालूँगा .

[क्रोध और दुःख से लँगड़ाता हुआ जाता है । नैपथ्य में मंगल की आवाज़—'वहाँ मत जाओ जी ' ' ' रजनी अवाक् होकर नैपथ्य की ओर देखती रह जाती है । कुछ क्षणों के बाद—लौटती हुई.....]—यह हिंदू समाज है, जहाँ लड़कियाँ इस तरह उठा ली जाती हैं, और वे

अपनी रक्षा भी नहीं कर सकती.....! ओह[रिवाल्वर हाथ में सम्हालती है ।]

के०—नहीं बीबी जी, आप बाहर न जायँ । रात अँधेरी है ।

र०—ओह, इस वुड्डे की एक हो लड़की !

के०—बीबी जी . बदमाश लोग हैं ।

र०—इन बदमाशों को सज़ा मिलनी चाहिए, नहीं तो ये शह पाते जायँगे ।

के०—बीबीजी, जाने कहाँ गये हंगे वे डाकू !

र०—अँधेरी रात.....आज ही अँधेरी रात होनी थी । बेचारा बूढ़ा . . . बेचारी शशि । उसके भाग्य की ही अँधेरी रात थी ।.....
[अस्थिरता से कमरे में टहलती है ।] उसके भाग्य की अँधेरी रात . . .

के०—बीबीजी, सुबह होगी तो देख लीजिएगा ।

र०—सुबह क्या पता चलेगा ?

के०—न चले बीबीजी पर रात अँधेरी है . . .आप आराम कीजिए ।

र०—क्या आराम करूँ ! नींद हराम हो रही है ।

के०—नींद तो सचमुच न आयेगी बीबीजी । यहाँ बदमाश बहुत हैं ।

र०—मेरे पास भी उनकी दवा है, केसर [रिवाल्वर दिखलाती है ।]

के०—बीबीजी, अब आप आराम कीजिये !

र०—[पुकार कर] मंगल !

मं० - जी, सरकार [आता है ।]

र०—मंगल, उस वुड्डे का क्या हुआ ?

मं०—सरकार, मेरे राकने पर भी वह भागता हुआ चला गया और अँधेरे में घुप हो गया जी ।

र०—तब तो वह लड़की मिल चुकी । मालूम होता है, यह ऐसी बातें अक्सर होती है ।

मं०—होती होगी सरकार ।

र०—अच्छा तुम जाओ, आज सोने का काम नहीं है । मेरा जी न जाने कैसा हो रहा है !

मं०—सरकार, आप सो जायें । मैं जागना रहूँगा । पहरा देना रहूँगा जी ।

र०—अच्छा, तुम जाओ ।

मं०—बहुत अच्छा सरकार ।

[जाता है ।]

र०—आज यह पहली रात बड़ी खराब रही । [कुर्मी पर बैठ जाती है ।] बेसर, उस वृद्धे के एक ही लड़की थी...शशि. उसे डाकू ले गये !

के०—हाँ, बीबी जी ।

र०—ओह, बेचारा बूढ़ा मर जायगा अब तो ।

के०—नहीं मरेगा बीबी जी...आप सो जायें । तबियत खराब हो जायगी ।

र०—केसर, तुम जाओ ।

के०—नहीं बीबी जी, जब तक आप न सोयेंगी तब तक मैं यही रहूँगी । मैं नहीं सोने की ।

र०—मैं [ज़ोर देकर] मैं कहती हूँ, तुम जाओ । ज़रूरत होगी तो बुला लूँगी ।

के०—अच्छा, बीबी जी ।

[जाती है ।]

र०—[सोचते हुए] शशि...एक ही लड़की...बूढ़ा पिता.....!

[सोचती सोचती कुर्सी पर ही गिर रख लेती है । बाहर से आवाज आती है—‘मंगल...मंगल ’]

म०—कोन है !

आ०—मैं हूँ आनंद । यहाँ तो कोई नहीं आया ।

म०—[चौक कर] ओह आनंदजी ! [पुकार कर] मंगल !—
[नैपथ्य में] जी, सरकार !

[मंगल आता है ।]

र०—कोन है ! आनंद जी ?

मं०—जी हों, सरकार ।

र०—उन्हे जल्दी अंदर ले आओ !

मं०—बहुत अच्छा, सरकार ।

[जाता है ।]

र०—[सोचते हुए] आनंद जी.....

म०—[बाहर] चलिए । आप अंदर चलिए, सरकार ।

[बाहर से टार्च की रोशनी धीरे-धीरे आती है । आनंद टार्च लिए मंगल के साथ आता है । आनंद सिर्फ कमीज़ और निकर पहने हुए हैं । पैर में जूते भी नहीं हैं । हाथ में बंदूक है और कंधे से होती हुई कार-तूसों की पेट्री । बाल अस्त-व्यस्त ! कमरे में आने पर आनंद टार्च ‘आफ’ कर लेता है ।]

र०—[व्यग्रता से] आनंद जी, यह यहाँ क्या हो रहा है ? मेरा सम्भ में कुछ नहीं आता !

आ०—आप शांत हो । घबरायें नहीं रजनी देवीजी, कुछ नहीं होगा । यहाँ तो सब ठीक है ?

र०—हाँ, सब ठीक है ।

आ०—आप...?

र०—मैं अच्छी हूँ, बिल्कुल अच्छी हूँ।

[दोनों एक दूसरे को एकटक देखते हैं ।]

आ०—यहाँ तो कोई नहीं आया ?

र०—आया था।

आ०—[आश्चर्य से] आया था ? कौन ? कौन आया था ?

र०—एक बुढ़ा। मैंने ही उसे बुलवा लिया था। डाकुओं ने उसे घेर लिया था। उसकी लड़की को वे लोग उठा ले गये। शशि को। वह रो रहा था। उसके घुटनों पर लाठियों की चोट थी।

आ०—घुटनों पर लाठियों की चोट थी ?

र०—हाँ, उसके कपड़े खून से लाल हो रहे थे।

आ०—अच्छा, मैंने अँधेरे में नहीं देखा।

र०—[आश्चर्य से] आपने अँधेरे में नहीं देखा ? आपने भी क्या .
[रुक जाती है ।]

आ०—जैसे ही मैं अपने डेरे पर पहुँचा और अपने कपड़े बदल रहा था वैसे ही मैंने चिल्लाहट और भाग-दौड़ की आवाज़ सुनी। मैं उसी तरफ दौड़ा। मैंने जो टार्च की रोशनी की तो उसमें मैंने देखा कि एक लड़की को दो मजबूत आदमी उठाये लिए जा रहे हैं। मैंने उसी वक्त ललकारा और उन्हें डरवाने के लिए फायर किया। वे लाग उस लड़की को छोड़ कर भागे।

र०—[शीघ्रता से] आह... शशि बच गई ! बच गई !

आ०—हाँ, मैंने लड़की पर रोशनी फेकी। उसका मुँह उन लोगों ने कपड़े से कस रक्खा था। मैं उस कपड़े का खाल ही रहा था कि बेचारा बुढ़ा 'शशि, शशि' कहते हुए वहाँ पहुँच गया—शायद मेरे टार्च की रोशनी देखकर। वह बुढ़ा शायद उस लड़की का बारा था। उसे देखते ही लड़की

अपने बाप से लिपट गई। मैं बुढ़े को धीरज देकर और उसकी लड़की उसे सौंप कर चला आया, यह देखने के लिए कि यहाँ तो कोई गड़बड़ नहीं है।

र०—ओह, आनंद जी, आप कितने बहादुर हैं ! आप कितने अच्छे हैं ! अगर आप न होते तो बेचारी शशि को तो वे लोग ले ही गए थे !

आ०—खैर, रजनी देवी, मैंने अपना कर्तव्य किया। इसमें बहादुरी की कौन सी बात ?

[अपनी बंदूक हाथों पर तालता है।]

र०—नहीं आनंद जी, आप कितने साहसी और...वीर पुरुष हैं। आनंद जी, आप बहुत अच्छे हैं।

आ०—ठहरिए, ठहरिए रजनी देवी, आप लोगों को हम जैसे सिपाहिया की ज़रूरत है। ज़रूरत है न !

र०—[सिर हिलार्ता है, धीरे से] हाँ, है । [फिर ज़ोर से] देखिए न, स्त्री इतनी कमज़ोर हो गई है कि वह डाकुओं से अपनी रक्षा भी नहीं कर सकती !

आ०—इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि आप समाज में चलकर स्त्रियों को मजबूत बनाएँ। आपके लिए यह एकांत नहीं है।

र०—हाँ, मैं भी समझ रही हूँ आनंद जी !

आ०—और देखिए रजनी देवी जी, इन डाकुओं ने आज उस बुढ़े के यहाँ छापा मारा, कल ये लोग हमारे-आपके घर भी आ सकते हैं।

र०—हाँ, डाकुओं को कौन रोक सकता है ?

आ०—आप लोगों की शक्ति ही इन्हें रोक सकती है। जब इन बदमाशों को मालूम हो जायगा कि किसी लड़की को उठा ले जाने में उन्हें अपनी जान से हाथ धोना पड़ेगा तो फिर कभी ऐसा काम करने की उनकी

हिम्मत नहीं पड़ेगी। वे समझेगे कि स्त्री शक्ति की देवी है, भैरवी है, दुर्गा है।

र०—आप ठीक कहते हैं आनंद जी ! [सोचकर] ओह, मैं कहना ही भूल गई.. बैठिए...बैठिए...।

आ०—नहीं, धन्यवाद। रात ज़्यादा बीत रही है। आप आराम कीजिए...। इन बदमाशों ने आज आपकी नींद में विघ्न डाल दिया। ये डाकू और बदमाश अपनी बदमाशी से बाज़ नहीं आते। और जब आपको यहाँ रहना है तो आपको बड़ी ख़बरदारी से यहाँ रहना चाहिए। ख़ास इन्तज़ाम के साथ। मैं तो कल यहाँ से चला जाऊँगा। आपने अपने अकेले रहने के लिए भयानक स्थान चुना है। ख़ैर, रजनी देवी जी, अब मुझे आज्ञा दीजिए.....।

र०—आप ठहरिए न...मुझे अकेले कुछ...डर मालूम होने लगा है। आप रुकिए न...नहीं नहो.. आप नहीं रुक सकते...मैं आपको कैसे रोक सकती हूँ !

आ०—नहीं, उसकी कोई बात नहीं है। मैं रातभर जागकर आपका पहरा दे सकता हूँ।

र०—आपको कष्ट होगा, आनंद जी !

आ०—ओह, आप क्या कह रही है ! जाने दीजिए ! मैं अब चला। मेरे पैर में पत्थर का एक टुकड़ा रास्ते में चुभ गया। अँधेरा था। ज़रा उसकी देख भाल.....

र०—कहाँ ? कहाँ ? देखें ? [आनंद के समीप पहुँच जाती है। उसका पैर पकड़ती है।]

आ०—नहीं, आप रहने दीजिए, ठीक हो जायगा।

र०—नहीं, नहीं, देखूँ ? [आनंद पैर उठाकर देखता है । पैर की उँगलियों से रक्त निकल रहा है ।]

र०—ओह, मैंने तो इसे देखा ही नहीं । मैं अभी पट्टी बाँध देती हूँ ।

[चारों ओर देखती है फिर शीघ्रता में टेबलक्लाथ फाड़ कर कोने में रखा हुई टेबल पर ग्लास के पानी में भिगो कर पट्टी बाँधती है ।]

आ०—ओ, धन्यवाद ! धन्यवाद ! रजनी देवीजी धन्यवाद ! अँधेरे में क्या मालूम होता कि कहाँ पत्थर-कंकड़ हैं ।

र०—आज आपको बहुत कष्ट उठाना पड़ा ।

आ०—नहीं, इसमें कष्ट क्या ! यह तो प्रत्येक युवक का जीवन होना चाहिए । विपत्ति में लोगों की रक्षा करना...मुसीबतों का सामना करना, जिद्दगी से लड़ना । समाज को ऊपर उठाना ।

र०—आपने मुझे रास्ता दिखला दिया, आनंद जी ।

आ०—आप खुद एक विदुषी हैं । आपमें ज्ञान का भंडार है । अच्छा, अब आज्ञा दीजिए, चलें । तो फिर मैं बाहर मंगल के साथ पहरा दूँ ? आप अकेली हैं ।

र०—नहीं, आप कष्ट न कीजिए । अब कुछ डर नहीं है । आप जाइए ।

आ०—ठीक है, और जब तक मेरी बंदूक यहीं पास में है तब तक किसी की हिम्मत नहीं हो सकती कि वह इस ओर नज़र भी कर सके । और आज मेरी बंदूक की आवाज़ सुनकर तो सब बदमाश भाग ही गये होंगे । दिन में मुझे शिकार नहीं मिला तो ईश्वर ने रात में मेरी बंदूक को जागने का मौका दिया । [हँसकर] अब यह मेरे कंधे पर भारी न होकर हल्की हो गई है, होशियार स्त्री की तरह.....

[रजनी कुछ कह नहीं पाती ।]

आ०—अच्छा, अब जाता हूँ। नमस्ते !

[रजनी मौन नमस्ते करती है ।]

आ०—देखिए, किसी बातकी ज़रूरत हो तो मंगल को मेरे पास फ़ौरन राज दीजिए। मैं अपने डेरे में जागता रहूँगा।

र०—धन्यवाद। [आनंद जाता है। आनंद के जाने पर रजनी कुछ देर तक मौन खड़ी रहती है।] चले गये !...वीर पुरुष...आनंद [एक एक शब्द को रुक-रुक कर कहती है।]...आ...नं...द [खिड़की के पास पहुँचती है।] कितने सुंदर ! कितने प्रकाशवान !!

[आकाश की ओर नज़र करती है। चंद्रमा का उदय होने जा रहा है। तारे आकाश में छिटके हुए हैं। क्षितिज में चंद्रमा दिखलाई पड़ता है। रजनी उसकी ओर देखती है।]

र०—[देखती हुई] कितना सुंदर...कितनी प्रकाशवान...! [देखती रहती है। फिर पुकारती है] केसर.....!

के०—आई बीबीजी।

र०—केसर...

के०—आप सोई नहीं, बीबीजी ?

र०—आज सोना भाग्य में नहीं है। केसर...देख, कितना अच्छा चंद्रमा निकल रहा है !

के०—हाँ, बीबीजी।

र०—अगर यह शाम से ही निकल आता तो शशि पर यह आफ़त क्यों आती ? और अँधेरे में पैरों में चोट क्यों लगती ? खून क्यों बहता ?

के०—कैसी चोट, बीबीजी...?

र०—[संभल कर] उस बुढ़े के पैर में चोट लग गई थी न ? घुड़ने के पास खून बह रहा था। उसके कपड़े लाल हो रहे थे।

के०--हाँ, बीबीजी। उसे तो बहुत चोट लग गई थी।

र०--वही...केसर, तुझे वहाँ बुरा तो नहीं लगता ?

के०--बीबीजी...आज रात की यह बात देखकर तो डर मालूम होने लगा है। न जाने आपका जो कितना कड़ा है कि यह सब देखकर भी आप यहाँ रहने की सोचती हैं। आज आनंद जी न होते तो ख़ौर नहीं थी।

र०--तू सच कहती है, केसर--

के०--और बीबीजी, मुझे तो उस बूढ़े आदमी को देखकर बाबूजी की याद आ गई। वे भी आपको ऐसा ही प्यार करते हैं ! वे तो चले गये जब उन्होंने आपकी सब तरह से यहाँ रहने की तबियत देखी। नहीं तो वह कही आपको छोड़ सकते थे यहाँ ? अकेले छोड़ सकते थे ?

र०--केसर, बाबूजी बहुत अच्छे हैं !

के०--और बीबीजी, आप घर रह कर भी ता पढ़ सकती हैं। यहाँ कान ज़्यादा पढ़ाई हो जायगी ! आनंद जी रोज़ रोज़ तो आयेंगे नहीं।

र०--[चिढ़कर] तू जा। क्या मैं अकेली नहीं रह सकती ?

के०--आप सो जाइए तो मैं चली जाऊँगी।

र०--अच्छा जा, मैं सोती हूँ। [केसर जाती है।]

र०--[चंद्रमा की ओर फिर देखती है।] मंगल ..

मं०--[बाहर से] जी, सरकार।

र०--तू क्या जाग रहा है ?

मं०--जी, सरकार ! आनंद जी कह गये हैं कि मैं जागता रहूँ। कह रहे थे, कल वह जाने से पहले अपने दो नौकरो को यहाँ और छोड़ जायेंगे।

र०--तूने मना नहीं कर दिया ?

मं०--मैं मना कर ही नहीं सका जी और वह चले गये।

र०—चले गये...चले गये .. ! [मंगल से] तुझे बाहर डर तो नहीं लगता ?

मं०—नहीं सरकार, डर काहे का जी । लेकिन आज की बात देख के मुझे डर लगता है जो ।

र०—इसमें डर की कौन बात ? अच्छा.. सुन...

मं०—बाहर डर की बात तो बहुत है, सरकार...

र०—कुछ नहीं । अच्छा...आनंद जी चले गये ?

मं०—जी, सरकार...

र०—तो.. [सोचने लगती है ।]

मं०—कहिए, सरकार...?

र०—मंगल, तू उनके डेरे पर जा । देख, चाँद तो निकल आया । अब सब जगह उजेला है ।

मं०—अच्छा, सरकार...

र०—और.. और...कनक से कहना कि...रजनी ने कहा है कि .. कि .. [जल्दी से] मैं भी साथ चलूँगी ।

मं०—ओहो...ओहो...साथ चलेंगी ? तब तो क्या बात ! मैं अभी दाढ़ के जाता हूँ । [जल्दी से भाग जाता है ।]

र०—केसर...

के०—आई, बीबीजी । [आती है ।]

र०—केसर, सामान ठीक करो । हम लोग भी कल सुबह चलेंगे ।

के०—[खुशी से] वाह बीबीजी ! वाह बीबीजी !

[परदा गिरता है ।]

अंधकार

[मार्च १९४२]

नाटक के पात्र

- (१) प्रजापति— सृष्टि के रचयिता
(२) विद्याधर— प्रजापति का सहायक
(३) मेनका— स्वर्ग की अप्सरा
(४) माया— प्रजापति की शक्ति
(५) अश्विनीकुमार— उर्वशी के प्रेमी और देवताओं
के वैद्य
(६) कश्यप— सप्तर्षियों के नेता

किन्नरियाँ

सू च ना

इस नाटक में रंगमंच की व्यवस्था इस भाँति हो कि उसमें स्वर्ग के वातावरण का आभास स्पष्टतया दिवाई दे। दिव्य प्रकाश के लिए नीले और हरे रंग की बिजली की रोशनी अपेक्षित होगी; इन्द्रधनुष के छोटे-छोटे टुकड़ों का आभास उत्पन्न करने के लिए पादों पर रंगीन स्लाइट का ध्रुव फेंका जा सकता है। वातायन के पीछे आकाश-गंगा का आभास, वस्त्र के पीछे बिजली के प्रकाश की व्यवस्था में हो सकता है। नीलम और मूँगे के आमन के लिए क्रमशः नीले और लाल वस्त्र से काम चल सकता है।

अभिनय के लिए प्रतिन्यास में आई हुई काव्य की कल्पनाएँ छोड़ी जा सकती हैं।

[स्वर्ग का एक कक्ष । दिव्य प्रकाश । समस्त वातावरण जैसे चन्द्र-किरणों से निमित्त है । चारों ओर एक कोमल उज्ज्वलता छाई हुई है । कक्ष का रूप इंद्रधनुष के छोटे छोटे टुकड़ों से बना हुआ है । सामने दो वातायन मयूर के फैले हुए पुच्छाकार के ढंग के हैं । उनमें आकाश-गंगा की धवल राशि नेत्र-कोरकों की भाँति वक्र दीख रही है । स्फटिक मणि के बने हुए दो-दो हंस वातायनों के दोनों ओर मजे हुए हैं जिनकी अरुण चंचु में मान-सरोवर से लाए हुए अरुण कमल हैं—उन पर ओस की भाँति मोतियों के दाने । देवशिल्पी विश्वकर्मा ने इस कक्ष के बीचोबीच एक सिंहासन बनाया है जिसमें नीलम का क़र्श और मूँगे का आसन है । वह सिंहासन आरती-पात्र की भाँति बना हुआ है । इन्द्रनीलमणि का गुब्बज और हारकों के स्तम्भ । सिंहासन भव्य है जैसे सौंदर्य और अनुराग घनीभूत हो गया है । समीप ही दो तीन छोटी पीठिकाएँ हैं ।

एक वातायन खुला हुआ है जिससे वायु-गति दीख रही है । दूसरे वातायन पर किरणों का धवल वस्त्र है जो भैरव राग की भाँति मंद गति में हिल रहा है । संभवतः इंद्र की पुरी देवधानी में विहार करती हुई देवांगनाओं के केशों से गिरे हुए तरुण कमलों की गंध से उठी हुई समीरण इस ओर प्रवाहित होकर वातायन-वस्त्र को गतिशील कर रही है । कक्ष के कोने से अगरु की गंध वाला श्वेत धूम धीरे-धीरे उठ रहा है । उसके साथ कक्ष में सूक्ष्म उल्लाम फैल रहा है । तुलसी की मंजरी के साथ मंदार, उत्पल, कुरवक, कुंद और पारिजात पुष्प की मालाएँ स्थान-स्थान पर सजी हुई हैं । उनके साथ ही मोतियों की मालाएँ हैं जिनसे कांति-जल टपक रहा है । कोने में ध्वजा और पताका ।

सिंहासन पर प्रथम प्रजापति मरीचि बैठे हुए हैं । तेज से परिपूर्ण । अत्यंत सूक्ष्म और श्वेत परिधान है जैसे किसी शैल शृंग को स्थान-स्थान

पर हिम-राशि ने आच्छादित कर लिया है। वे पुण्य की गरिमा में आसीन है। माथे पर पीत मलय की चित्ररेखा। कानों में कुंडल। विशाल नेत्र जिनमें तपस्या की स्वर्ग-श्री झॉक रही है। एक हाथ में नील कमल। दूसरे हाथ में अधिकार का संकेत। कमर में नीला पाट-बन्ध। गले में तुलसी और रुद्राक्ष की माला जिसमें नीचे हीरक-पदिक है। यही हीरक-पदिक उनके प्रजापति होने का प्रमाण है। पैरों में पादुकाएँ।

प्रजापति के केश खुले हुए हैं। केशों के ऊपर घबल कुंद की माला है जिनमें उनके केश ब्रिखरते हुए भी एक विशेष सौंदर्य में कसे हुए हैं। वे एक क्षण बाद आँखें बंद कर ध्यानावस्थित होते हैं। दोनों हाथों की अंजुलि में नील कमल आगे की ओर सरक जाता है जैसे ईश्वर की वंदना में नीलाकाश कमल का रूप लेकर आगे बढ़ा है। कुछ देर बाद उनके ओठों से ॐ की ध्वनि निकलती है, जैसे शून्य में वायु की सृष्टि हुई है। ॐ की ध्वनि के बाद एक क्षण रुक कर वे प्रभु के स्तवन में धीरे-धीरे एक श्लोक कहते हैं :]

अन्तः प्रविश्य भूतानि यो विभर्त्यामि केतुभिः ।

अन्तर्यामीश्वरः साक्षात्पातु नो यद्वशं स्फुटम् ॥

[आँखें खोलते हुए] ध्रुवलोक ! इतने लोको का निर्माण कर चुकने के अनंतर ध्रुवलोक ! सर्वश्रेष्ठ, सर्वोपरि ! जैसे मेरी निर्माण-कला की विजय-श्री अंतरिक्ष में मुस्कुरा उठे। लोको के मस्तक पर रक्खा हुआ यह मुकुट, ध्रुवलोक ! [सिंहासन से उतर कर वातायन से झॉकते हुए] कितना सुंदर, कितना गौरव पूर्ण ! जैसे विश्वात्मा की पूजा में मैंने एक फूल शून्य में उछाल दिया हो और वही स्थिर रह गया हो। ऐसा शाश्वत हो रहा है मेरा ध्रुवलोक ! महात्मा ध्रुव, तुम मेरी कल्पना में साकार होकर विश्व के शृंगार हो गए ! अमरता के स्तंभ ! मेरे मन्वंतर के सब से यशस्वी निर्माण। सब से

यशस्वी...एक लोक के अधिपति । ध्रुव...लोक [वातायन में फिर झोंकते हैं ।] किंतु सूर्य और नक्षत्र आदि ज्योतिर्गणा की किरणें केवल ध्रुवलोक तक ही पहुँचती हैं । इसके आगे नहीं । क्यों ? क्यों नहीं पहुँचती ? [सोचते हैं ।] इसलिए कि लोक और आलोक प्रदेश के बीच में एक विशाल पर्वत है, लोकालोक ! तीनों लोकों का सीमा उसी पर्वत में बँधी गई है । लोकालोक पर्वत के ऊँचे उठने से ही भू-भाग के दूसरी ओर अंधकार है ! अंधकार ! भयानक पाप, भीषण दुराचार ! [पुकार कर] विद्याधर !

[विद्याधर का प्रवेश । गौरवर्ण, लंबे केश कलाप, अंगराग और पीत पाट-वस्त्र । केश कुंचित और पुष्पो में सुसज्जित । आकर प्रणाम करता है ।]

प्रजापति—विद्याधर, एक भूभाग में प्रकाश है, दूसरे में अंधकार !

विद्याधर—किस प्रकार, प्रभु !

प्र०—लोकालोक पर्वत के अधिक ऊँचे होने के कारण सूर्य आदि नक्षत्रों की किरणें केवल ध्रुवलोक तक ही पहुँचती हैं ! शेष में अंधकार का ही शासन है । केवल अंधकार, महाधकार !

वि०—सत्य है, प्रभु !

प्र०—और विद्याधर, जानते हो यह अंधकार क्या है ?

वि०—क्या है, प्रजापति ?

प्र०—[हँस कर] कोई नहीं जानता । केवल मैं जानता हूँ और मेरे आठ भाई प्रजापति । इनके अतिरिक्त यह रहस्य कोई नहीं जानता ।

वि०—क्या रहस्य है, प्रभु ?

प्र०—तुम जानना चाहते हो, विद्याधर ! गायकों के लिए रहस्य की बातें नहीं होती । वे रहस्य का गीत बना कर गा देंगे ।

वि०—किंतु प्रभु, अब मैं गायक विद्याधर नहीं तो अब विश्वात्मा की आज्ञा से प्रभु की सेवा में नियोजित हो गया हूँ। आपकी सेवा में।

प्र०—[नील कमल को सामने करते हुए] यह नील कमल विश्वात्मा को समर्पित हाकर भी नील कमल रहेगा। उसी तरह तुम भी अपना स्वभाव तो नहीं छोड़ सकते। अवसर आने पर विद्याधर केवल गायक विद्याधर हो सकता है।

वि०—प्रभु, ऐसा नहीं हो सकेगा।

प्र०—विद्याधर, जल को यदि मैं हिम बना दूँ तो क्या वह जल नहीं रहेगा? थोड़ा ऑन पाते ही वही हिम फिर जल बन कर बहने लगेगा। तुम भी बहने लगोगे, विद्याधर! तुम इंद्र के सेवक हो। मायावी का सेवक क्या मायावी नहीं होगा?

वि०—प्रभु, मैं अपना स्वभाव भूल गया हूँ। कहाँ मैं प्रेम की उपासना में लीन विद्याधर सोमरस के पान में अपने जीवन की तरलता समझता था, आज प्रभु के साधना-कक्ष में आकर तपस्वी हो गया हूँ। गायन के स्थान पर मंत्रोच्चारण करता हूँ। सोमरस के स्थान पर प्रभु की मुख-श्री की शोभा का पान करता हूँ।

प्र०—उन्नति करो विद्याधर, यही विश्वात्मा की इच्छा है।

वि०—प्रभु, आपके पथ-प्रदर्शन में उन्नति ही करूँगा। गायक अब साधक बन गया है, प्रेम अब उपासना बन गया है। मैं मधुरालाप के स्थान पर रहस्य सुनने का अनिकारी बन गया हूँ। प्रभु की सेवा में रहते हुए, निर्माण कार्य में महायत्ना पहुँचाते हुए, मैं तो आपके सभी परामर्शों का पात्र बन गया हूँ, प्रभु!

प्र०—ठीक है विद्याधर, तुम प्रियंवद हो, कामरूप हो—इच्छानुसरा

रूप धारण कर सकते हो। किंतु अंधकार का रहस्य बहुत बड़ी मर्यादा का रहस्य है !

वि०—प्रभु, आप मेरी उत्सुकता बढ़ा रहे हैं। मैं सुनने के योग्य हूँ।

प्र०—अच्छा, मैं तुम्हें सुनाऊँगा। तुम विदुष हो—यह ज्ञान भी प्राप्त करो। किंतु वह अत्यंत विश्वस्त और गोपनीय है।

वि०—प्रभु, मेरे समीप आकर वह और भी गोप्य और विश्वस्त बन जायगा।

प्र०—अच्छा, तब तुम्हें सुनाऊँगा। देखो, यहाँ कोई है तो नहीं ?

[विद्याधर द्वार तक झँक कर लौटता है।]

वि०—कोई नहीं, प्रभु !

प्र०—तब सुनो। वायु को प्रथम चार इन शब्दों का भार वहन करने का अवसर आ रहा है। यह रहस्य एकाकीपन से निकल कर आज वायुमंडल का स्पर्श करेगा।

वि०—सत्य है, प्रभु !

प्र०—[कुछ निकट आकर] सुनो। मेरे पिता विश्वगुरु ब्रह्मा है। हम नव पुत्रों के अतिरिक्त उनके एक कन्या भी हुई। अत्यंत सुंदरी कन्या ! उसका नाम जानते हो ? स...र...स्व . ती.. । मेरी बहन सरस्वती के शरीर से रूप चंद्रकला की भाँति आकाश के रोम-रोम में स्वर्ग की सृष्टि करता था। महात्मा ब्रह्मा सरस्वती के पिता होकर भी उसके रूप की—अपनी कन्या के रूप की अवहेलना नहीं कर सके। वे उसे काम-भाव से चाहने लगे, विद्याधर ! ओह...हृदय जल रहा है—विश्व में आग लग जायगी ! [नील कमल हाथ से फेंक देते हैं।]

वि०—प्रभु, शांत हो। अशांति के व्यूह से स्वतंत्र हो, प्रभु !

प्र०—विद्याधर ! पिता को इस अधर्म-पथ पर जाते देखकर हम लोगों ने

प्रार्थना की—‘विश्वगुरु, यह कलंक-पथ है। उस पर अपने पवित्र हृदय को गतिशील कर आप भविष्य की सृष्टि को दूषित न कीजिए। हंस के वाहन पर आपका कलुष शरीर पुण्य पर पाप की तरह ज्ञात होगा।’ विद्याधर, पिताजी लज्जित हुए और उन्होंने उस कामुक शरीर का परित्याग किया। वही परित्याग किया हुआ कलुष शरीर अंधकार है विद्याधर, वही कलंक शरीर अंधकार है। यह मेरे पिता के दुराचरण की कथा है। पुत्र मरीचि को पिता के कलंक को मिटाना है। मैं इस अधकार का नाश करना चाहता हूँ।

वि०—आप धन्य हैं, प्रभु ! पिता के महान् पुत्र। किंतु आप अंधकार का नाश किस प्रकार कर सकेंगे ?

प्र०—[कुछ रुक कर] सोच रहा हूँ किस प्रकार करूँ ! स्वर्ग और पृथ्वी का मध्य-भाग ब्रह्मांड कहलाता है। तुम भी वहाँ रहते हो और वही सूर्य की स्थिति भी है। तुम जानते होगे कि सूर्य इसीलिए तो मार्तंड कहलाता है कि वह अंधकारमय मृत ब्रह्मांड में वैराज रूप से प्रविष्ट होता है और हिरण्यमय अंड से प्रकट होने के कारण उसका नाम हिरण्यगर्भ भी है। मैं चाहता हूँ कि मैं संपूर्ण सृष्टि इस प्रकार पुनर्निर्मित करूँ कि समस्त अस्तित्व एक हिरण्यमय अंड हो और उसमें मार्तंड की स्थिति गतिशील न हाकर स्थिर रहे जिससे अधकार का अस्तित्व ही न हो।

वि०—किंतु प्रभु, आप प्रजापति होकर भी मार्तंड को नहीं रोक सकते। सृष्टि का नियम ही गतिशीलता है। आप में भी गतिशीलता है। आप स्वयं गतिशील होकर सूर्य की गति कैसे रोक सकते हैं ?

प्र०—मैं यदि एक गतिशील धूमकेतु होकर सूर्य से टकरा जाऊँ तो ?

वि०—प्रभु, सूर्य नष्ट हो जायगा और अंधकार ही अंधकार चारों ओर व्याप्त हो जायगा। उससे तो आपका उद्देश्य अपूर्ण ही न रहेगा वरन् उसका बीज ही नष्ट हो जायगा।

प्र०—[हँस कर] तुम अंततः एक गायक हो विद्याधर ! तुम्हारा संगीत नक्षत्रों में भले ही भर गया हो किंतु नक्षत्रों की बात तुम्हारे संगीत में प्रवेश नहीं कर सकी । अरे, जो धूमकेतु वेग से गतिशील होकर सूर्य के मार्ग का अवरोध करेगा वह सूर्य से सहस्र गुना प्रकाशमान होगा और यदि सूर्य गति में रुक न सका तो वह स्वयं शून्य में सहस्रों सूर्य बन कर कण-कण को प्रकाशित करेगा । और तब वह धूमकेतु अपने ही केंद्र पर घूमता हुआ स्थिर होगा ।

वि०—किंतु प्रभु, स्थिरता में अंत है ।

प्र०—मुझे चिंता नहीं है विद्याधर, यदि मैं स्थिर रह कर नष्ट हो जाऊँ तो मुझे भय नहीं है । पिता की कलंक-कालिमा तो दूर कर सकूँगा ।

वि०—किंतु प्रभु, अपने पिता विद्वगुरु की कलंक कालिमा रहने दीजिए न ! वह आगामी सृष्टि के लिए व्यापक प्रमाण बनकर संसार के दुराचरण को रोकेगी ।

प्र०—[सोच कर] तुम भी ठीक कहते हो विद्याधर, किंतु इस दुराचरण को रोकने के लिए बुद्धि की आवश्यकता होगी । मुझे बुद्धि का केंद्र भी उत्पन्न करना होगा । [फिर कुछ सोचते हैं और वातायन की ओर बढ़ते हैं ।]

वि०—आप क्या सोच रहे हैं ?

प्र०—रजःप्रधान प्रकृति को गतिशील कर उससे महत्त्व उत्पन्न किया गया और उस महत्त्व से अहंकार । वही अहंकार तत्वों में व्याप्त होकर एक तेजोमय ब्रह्मांड-कोष की रचना में समर्थ हो सका । ब्रह्मांड-कोष में चैतन्य की नाभि से कमल और उससे ब्रह्मा । और देवी देवताओं की सृष्टि.....

वि०—यह तो सत्य है प्रभु, किंतु इससे क्या निष्कर्ष निकालेंगे ?

प्र०—विद्याधर, मैं एक नवीन चक्र की सृष्टि करना चाहता हूँ ।

वि०—वह क्या ?

प्र०—पुरुष और स्त्री का निर्माण ।

वि०—[आश्चर्य से] ओहो, आप स्वर्ग की सृष्टि को भूमंडल में भी ले जाना चाहते हैं ? यह देवी देवताओं की सृष्टि आप भूमंडल में स्त्री पुरुष के रूप में करेंगे ?

प्र०—[दृढ़ता से] हाँ, कहूँगा । अपने पिता के इस पापमोक्ष के लिए सब कुछ कहूँगा ।

वि०—[कौतूहल से] पाप-मोक्ष कैसे होगा प्रभु ?

प्र०—अंधकार का नाश करने के लिए बुद्धि का केंद्र चाहिए न ? मैं बुद्धि का अक्षय केंद्र पुरुष और स्त्री में स्थापित कहूँगा । पाप की जड़ पुण्य में काटूँगा । विष का विनाश अमृत से कहूँगा । दुराचार को सदाचार से नष्ट कहूँगा ।

वि०—कितु स्वर्ग की सृष्टि भूमंडल में ले जाना अधर्म न होगा ?

प्र०—विद्याधर, यदि यह अधर्म होगा तो मैं इसके लिए धर्म के नये सिद्धांत बनाऊँगा । धर्म की परिभाषा तक मैं परिवर्तन कहूँगा ।

वि०—प्रभु, कोई अनर्थ न होगा ?

प्र०—मैं इसके लिए विश्वगुरु की सहायता मानूँगा । उन्होंने पापमय शरीर त्याग कर पुण्य देह धारण की है । मैं उनसे उस पुण्य देह के त्याग करने की प्रार्थना कहूँगा ।

वि०—उससे क्या होगा ?

प्र०—उस देह के एक भाग से होगा पुरुष और दूसरे भाग से होगी स्त्री । मैं जीव को पुरुष और स्त्री शरीर धारण करने की आज्ञा दूँगा ।

वि०—क्या विश्वगुरु इसके लिए तैयार होंगे ?

प्र०—यदि वे कलंक से बचने के लिए एक शरीर छोड़ सकते हैं तो

क्या अपने पुत्र की इस सदिच्छा के लिए दूसरा शरीर नहीं छोड़ सकते ? वे फिर नया शरीर धारण करेंगे । तुम स्वयं कहते हो कि काल और अवस्था दोनों गतिशील हैं ।

वि०—सत्य है, यही कीजिए, प्रभु !

प्र०—मैं अभी विश्वगुरु से मिलने जा रहा हूँ । उनके पाप को अपनी सदिच्छा के पुण्य से दूर करूँगा । उनका जो दुराचार अंधकार बन कर फैला हुआ है उसे बुद्धि की किरण से नष्ट करूँगा । पुरुष और स्त्री की सृष्टि । मन्वंतर समाप्त हो रहा है । जाते जाते पिता के कृण से उक्कृण होना चाहता हूँ विद्याधर ! इससे पहले कि मैं प्रजापति का आसन छोड़ूँ, विश्वगुरु को दिखला दूँ कि मैं कितने कौशल से उनके पापाचार को पुरुष स्त्री के बुद्धि-केंद्र से विनष्ट कर सकता हूँ ।

वि०—ठीक है, प्रभु !

प्र०—पुरुष और स्त्री । दोनों माया से निर्मित होंगे किंतु उनमें जो मर्यादा की रेखा होगी उनसे वे व्यवस्थित होंगे । आग और सर्प एक साथ प्रवाहित होंगे किंतु उनमें एक विभाजक रेखा होगी । इंद्रधनुष के रंग साथ रहते हुए भी अलग रहते हैं । प्रत्येक रंग की एक-एक विभाजक रेखा है । इसी प्रकार पुरुष और स्त्री के संबंधों की एक-एक विभाजक रेखा होगी । मैं उस बुद्धि की विभाजक रेखा से एक रंग को दूसरे रंग से न मिलने दूँगा । पिता पुरुष, कन्या स्त्री को देख कर भी न देखे । छू कर भी न छुए । प्रेम करता हुआ भी प्रेम न करे ।

वि०—प्रभु, आप बहुत बड़ा कार्य करेंगे ।

प्र०—माया, मोह और भ्रम से उत्पन्न मेरे ये खिलौने देवी देवताओं की अपेक्षा अच्छा व्यवहार करे विद्याधर, मैं यह चाहता हूँ । जो कार्य देव-

ताओ से नहीं हो सका, वह पुरुष और स्त्री के रूप कर सकें। मेरे ये क्षणिक रंग शाश्वत रंगों से अच्छे हो सकें।

वि०—कल्पना अच्छी है, प्रभु !

प्र०—उस कल्पना को सत्य से आलोकित करना चाहता हूँ। अच्छा, मैं अब विश्वगुरु के समीप जाऊँगा। तुम तब तक यहीं रहो। मेनका इस समय अपनी पूजा समाप्त कर मुझ से आशीर्वाद लेने आई होगी। वह बाहर ही होगी। मेरे आने तक तुम उसे नृत्य करने की आज्ञा दो जिससे यह समस्त वातावरण पुरुष और स्त्री के निर्माण करने की राग-रंजित भावनाओं से परिपूर्ण हो जावे।

वि०—जो आज्ञा।

प्र०—अच्छा, मैं जाता हूँ। इस समय मैं मेनका से नहीं मिलूँगा। विलंब होगा। मैं इस दक्षिण द्वार से जाऊँगा। शुभमस्तु !

वि०—प्रभु, आप का मार्ग प्रशस्त हो ! आपका निर्माण-कार्य मंगलमय हो ! प्रणाम।

[प्रजापति प्रणाम स्वीकार कर शीघ्रता से दक्षिण द्वार से जाते हैं।]

वि०—[गहरी साँस लेकर] प्रजापति के मन्वन्तर के समाप्त होने के पूर्व यह महाविधान क्या रूप ग्रहण करेगा, यह विश्वात्मा के अतिरिक्त कौन कह सकेगा ! शुभ हो, मंगलमय हो ! [पुकार कर] मेनका !

[मेनका का प्रवेश। अत्यंत रूपवती नवयुवती। मुस्कान से ही जिसके शरीर की सृष्टि हुई है। चितवन से जिसकी गति बनो है और चुंबन से ही जिसके अधरों का निर्माण हुआ है। इंद्रधनुषी वस्त्र पहने आती है। विशाल नेत्र जैसे प्रेम ने दो कमलों में निवास कर लिया है। माथे में कुंकुम, कानों में कुंडल, कपोलों पर श्याम अलक। केश-पाश में रत्न रेखा। कंठ में कोकनद का हार। वह गिरते हुए उत्तरीय को बाएँ

हाथ से रोक रही है । कटि में किंकणी, हाथों में वलय और पैरों में नूपुर । शरीर में सद्यः प्रस्फुटित कमलों की सुगंधि । उस पर अंगराग जो आलिंगन का मौन निमग्न है । शरीर में चंचलता और उन्माद । उसके हाथों में पूजा-पात्र है जिसमें पुष्प-राशि और मलय सुसज्जित है । कपूर जल रहा है और अगरु का धूम है मानो शृंगार के हाथ में भक्ति है । वह मंद गति से प्रवेश करती है जैसे निर्मल जल-राशि में चंद्रकला का उदय हो रहा है ।]

वि०—मेनका, प्रजापति विश्वगुरु से मिलने गए हैं ।.....

मे०—[अत्यंत मधुर शब्दों में] तब तुम अकेले हो विद्याधर ?

वि०—हाँ, मेनका, मैं अकेला हूँ भाग्य की तरह । किंतु प्रभु की शक्ति के साथ ।

मे०—[विद्याधर की बातों को अनसुनी कर] सुनते हो, लतिकाओं ने क्या कहा है ? लतिकाओं ने कहा है—‘आज हम नहीं खिलेंगी ।’ क्यों ? क्यों नहीं खिलेंगी ? [भौंहे सिकोड़ कर] नहीं खिलेंगी, क्योंकि समीर कहीं भटक गया है । दूर देश चला गया है ।

वि०—देवी, दूर देश नहीं गया होगा । यही कहीं पास होगा ।

मे०—[हरिणी की चकित दृष्टि से] कहाँ ? [चारों ओर देखती है ।]

वि०—देवी, प्रतिदिन तो वह लतिकाओं से मिलता है । आज वह तुम्हारी मंदिर साँस में भर कर तुम्हारे हृदय के स्पर्दन का सुख ले रहा होगा । [सँभल कर] नहीं, वह प्रभु के कक्ष में.....

मे०—[हृदय स्पर्श करते हुए] स्पर्दन का सुख । [किंचित् मुस्करा कर] स्पर्दन का सुख ! विद्याधर, स्पर्दन का सुख ले रहा है ! और विद्याधर, वह तुम्हारी तरह निष्ठुर नहीं है ।

वि०—देवी, मैं अब प्रजापति का सदायक हो गया हूँ। अब मैं प्रेमी विद्याधर नहीं। अब तपस्वी विद्याधर हूँ।

मे०—[हँस कर] ओहो, तपस्वी महाराज ! नेत्रों में तेज—कामदेव के बाणों की नोंक नहीं—शरीर में भस्म—अंगराग नहीं, वाणों में मंत्र—प्रणय-निवेदन नहीं ! तपस्वी महाराज को प्रणाम।

वि०—देवी, अब मैं प्रभु प्रजापति के समीप हूँ, मेनका के समीप नहीं। अब मेरी शक्ति विकास में लगेगी, विलास में नहीं।

मे०—विद्याधर, विलास में ही सृष्टि का विकास होता है।

वि०—देवी, यह प्रभु प्रजापति का कक्ष है, इंद्र का नंदन निकुंज नहीं। यहाँ की पवित्रता में केवल नूपुर की झनकार हो सकती है, उसके साथ मन की झनकार नहीं। यहाँ बादल गरज सकते हैं किंतु पानी नहीं बरस सकता। फल खिल सकते हैं पर वे कली की ओर नहीं देख सकते। यहाँ मेनका केवल नर्तकी है, विलासिनी नहीं।

मे०—न मैं नर्तकी हूँ और न विलासिनी। मैं स्वयं प्रभु-प्रजापति का आशीर्वाद लेने के लिए आई थी।

वि०—किंतु मेनका, इस समय वे यहाँ नहीं हैं। यह पूजा का पात्र रख दो और वातावरण को इस प्रकार राग-रंजित करो कि...

मे०—किस तरह ? [पूजा का पात्र पीठिका पर रख देती है।]

वि०—[सँभल कर] मैं प्रभु प्रजापति के निर्माण-कार्य का भेद हर किसी से नहीं कह सकता। जो उनकी आज्ञा है, उसी का पालन होना चाहिए।

मे०—विद्याधर, तुम्हारे हृदय से तो समाधि अच्छी है।

वि०—मेनका, मैं धर्म के आचरण की बात के अतिरिक्त कुछ नहीं सोच सकता।

मे०—विद्याधर, तुम वेद पढ़ते हो, लेकिन क्या यह बतला सकते हो

कि कोकिल वसंत में क्यों कूजती है ? सुगंधि किसे रिझाने के लिए फूल के द्वार खोलती है ? लहरे किसके हृदय-तट को छूना नहीं चाहती है ?

वि०—विश्वात्मा के ।

मे०—[प्रजापति के हाथ से गिरा हुआ नील कमल उठा कर] यह नील कमल जो अपने बिखरे हुए शरीर को इस पतले मृणाल के छार पर समेट कर बैठा है किसकी प्रतीक्षा में सुगंधि के प्राण लिए है ?

वि०—प्रभु प्रजापति की ।

मे०—ओर [मुस्करा कर] तुम्हारे विश्वात्मा और प्रभु प्रजापति के हृदय के भीतर कौन है ?

वि०—धर्म इस प्रश्न के पूछने की आज्ञा नहीं देता ।

मे०—विद्याधर, मैं बतलाऊँ कौन है ?

वि०—मैं सुनना नहीं चाहता ।

मे०—विद्याधर, विश्वात्मा और प्रजापति के हृदय के भीतर तुम हो, पुरुष हो । सुनते हो ? सुन सकते हो ?

वि०—[आश्चर्य से] मैं हूँ ?

मे०—हाँ, विद्याधर, तुम । अनेक रूपों में—वसंत बन कर—देवता बन कर—हृदय बन कर—तुम हो । पुरुष, विद्याधर !

वि०—[सोचते हुए] तुम ठीक कहती हो, देवी ! ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में ब्रह्म की भावना में पुरुषत्व है । विश्वगुरु ने स्वयं मुझे सुनाया था—
किंतु मेनका

मे०—[तिरछी दृष्टि से] अब मेरी ओर देख सकते हो ?

वि०—देवी, क्षमा करो । मैं तुम से प्रेम करते हुए भी यहाँ तुम से प्रेम की बातें करने में विवश हूँ । मैं प्रजापति की सेवा में हूँ ।

मे०—मैं भी अपने देवता कामदेव की पूजा कर अभी ही आ रही हूँ । मैं भी साधना-मंदिर से लौट रही हूँ ।

वि०—कामदेव भी पूजा का देवता है, मेनका ?

मे०—सावधान, विद्याधर ! कामदेव ब्रह्मा के हृदय से उत्पन्न हुआ है । वह तो उसी समय से देवता मान लिया गया जब से विश्वगुरु ने उसी देवता के संकेत से सरस्वती देवी.....

वि०—[रोक कर] चुप मेनका ! एक शब्द भी नहीं । यह बात कभी मुँह पर न लाना ।

मे०—विद्याधर, मुझे इस चर्चा का अवकाश भी नहीं है । अमर हो विश्वगुरु ब्रह्मा के विचार । मैं यदि प्रेम-वार्ताएँ सुनाने लगूँ तो विद्याधर, तुम्हारे साधन-कक्ष में कलियाँ भी देवियाँ बनकर नृत्य करने लगेंगी ।

वि०—शांत, मेनका । यह रहस्य केवल मेरे प्रभु प्रजापति को ज्ञान है जो उन्होंने मुझे आज बतलाया । तुम इसे कैसे जानती हो, देवी ?

मे०—यदि तुम्हारे प्रभु प्रजापति मुझे न बतलाएँ तो क्या मुझे कुछ मालूम ही न होगा ? अन्य प्रजापतियों ने मुझ पर अनुग्रह किया था ।

वि०—ओह, सर्व विजयिनी मेनका, मैं तुम्हारा अनुचर हूँ ।

मे०—स्वयं अर्नगरिपु भगवान् शंकर मेरी सखी के अनुचर हैं, तो तुम्हारे अनुचर होने में मुझे क्या संतोष !

वि०—भगवान् शंकर भी अनुचर हैं ?

मे०—हाँ, कैलाश पर्वत पर विहार करनेवाली मेरी सखी को देखकर भगवान् शंकर भी मुग्ध हो गए ! किंतु पार्वती के भय से वे उसे स्पष्ट रूप से देख नहीं सकते थे । जब मेरी सखी भगवान् की प्रदक्षिणा कर रही थी तो भगवान् शंकर ने उसे प्रत्येक क्षण देखने के लिए चारों ओर अपने चार मुख और बना लिए ।

वि०—अच्छा, इसलिए भगवान शंकर के पाँच मुख हैं ।

मे०—हाँ, किंतु नारद को तो तुम जानते हो । विग्रह के सूत्रधार । उन्होंने पार्वती से यह भेद कह दिया तो पार्वती ने उनके चारों मुख की आँखें बंद कर दीं !

वि०—[हँसकर] ओह, पार्वती ने यह किया !

मे०—तुम संभवतः स्त्री को ईर्ष्या नहीं जानते । केवल अप्सराओं से प्रेम कर सके हो न ? इसीलिए ! जब पार्वती ने किसी भाँति भी भगवान के नेत्र नहीं खुलने दिए तो भगवान ने अपने मस्तक पर तीसरे नेत्र को सृष्टि की ।

वि० — ओह, तीसरे नेत्र की !

मे०—प्रिय विद्याधर, यह धर्म की जीत है कि प्रेम की ?

वि०—मेरे लिए प्रेम ही धर्म है, मेनका । जो भावना-पक्ष में प्रेम है वही साधना-पक्ष में धर्म । साधना-पक्ष में मैं प्रजापति का सेवक हूँ, भावना पक्ष में तुम्हारा अनुचर ।

मे० — यदि मेरे अनुचर होने में तुम्हें साधना-पक्ष छोड़ना पड़े तो ?

वि०—देवी, तुम मेरी परीक्षा ले रही हो ?

मे०—अच्छा जाने दो । यही बहुत है कि भावना पक्ष में विद्याधर मेनका के अनुचर है । किसलिए मुझे बुलाया था ?

वि० — प्रजापति, अभी विश्वगुरु की सेवा में गए हैं । उनसे उसी समस्या का हल पूछने के लिए । उन्होंने मुझे आज्ञा दी है कि मैं तुमसे नृत्य करने के लिए निवेदन करूँ जिससे यह समस्त वातावरण अनुराग के रंग से रंजित हो उठे ।

मे० — एक बात है विद्याधर, इस नृत्य के बाद नंदन-कुंज में मेरे हाथों से एक मधु-पात्र !

वि०—तुम्हारी इच्छा, देवी !

[मेनका वातायन की ओर जाती है ।]

मे०—मेरी किन्नरियों अलका से नवीन शरीर धारण कर आज ही आई हैं। उन्हें भी बुला लें ? [संकेत कर दो किन्नरियों को बुलाती है । फिर आकर नृत्य की मुद्रा धारण करती है । इतने में ही किन्नरियाँ नृप-शब्द के साथ नृत्य में सम्मिलित हो जाती हैं । कुछ देर तक लास्य नृत्य होता है । विद्याधर तन्मय होकर देखता है ।]

[गंभीर मुद्रा में प्रजापति का प्रवेश । वे नीची दृष्टि किए हुए आते हैं । मेनका और किन्नरियों का नृत्य रुक जाता है । वे प्रजापति को हाथ जोड़ कर प्रणाम करती हैं ।]

प्र०—[रूखे स्वर में] तुम लोग जाओ । मैं अशांत हूँ ।

[मेनका और किन्नरियों का प्रस्थान ।]

वि०—क्या हुआ प्रभु ?

प्र०—कुछ नहीं हो सका, विद्याधर, कुछ नहीं हो सका !

वि०—आपने विश्वगुरु के दर्शन किए ?

प्र०—किए, किंतु कुछ फल नहीं हुआ !

वि०—[आश्चर्य में] कुछ फल नहीं हुआ ?

प्र०—हाँ, विश्वगुरु मेरे मत से सहमत नहीं हैं ।

वि०—क्यों ?

प्र०—वे कहते हैं कि एक कलंक को छिपाने के लिए जो कार्य भी किया जायगा वह भी कलंक होगा । मेरे कलंक को छिपाने की आवश्यकता नहीं । संसार में मेरी कलंक-कथा अंधकार बन कर व्याप्त रहने दो ।

वि०—वे महात्मा हैं प्रभु, वे विश्वगुरु हैं ।

प्र०—किंतु मेरे हृदय को संतोष कैसे हो ? विद्याधर, उन्हें मेरी इच्छा-

पूर्ति में सहायक होना ही होगा। यदि वे मेरा साथ न देंगे तो मैं अपनी शक्ति का प्रयोग करूँगा।

वि०—जब उन्होंने एक बार अपनी सहमति नहीं दिखलाई तो फिर वे आपके सहायक कैसे हो सकते हैं ?

प्र०—तो विद्याधर सुनो, मैं अपने योगबल से उनके शरीर का नाश कर उसके दो भागों से स्त्री पुरुष बनाऊँगा। मैं अपने कर्तव्य-पथ से नष्ट हो सकता। अंधकार का नाश तो करूँगा ही।

वि०—किंतु यदि विश्वगुरु नहीं चाहते तो अंधकार का नाश नहीं होगा।

प्र०—न हो, मैं यथाशक्ति उसके दूर करने का उपाय करूँगा।...
[रुक कर] ओह, मैं कुछ और बात देख रहा हूँ ! मुझे इस वातावरण में कुछ वासना की दुर्गंध सी मिल रही है।

वि०—प्रभु ! कैसी वासना !

प्र०—तुमने मेनका से प्रेम की बातें की हैं।

वि०—[हाथ जोड़ कर] प्रभु, क्षमा हो।

प्र०—मेरे साधना-गृह में तुम इंद्रियों की आग नहीं जला सकते। आत्मा के प्रकाश को तुम इंद्रियों के धूम्र से धुंधला करना चाहते हो ! विद्याधर, तुमने मेनका से प्रेम की बातें की हैं।

वि०—मैं बाध्य किया गया, प्रभु।

प्र०—पुरुष होकर यह कहते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आती ? पुरुष बाध्य नहीं किया जा सकता, विद्याधर ! आकाश को कोई खींच कर बड़ा नहीं सकता। कल्पतरु को कोई दबा कर छोटा नहीं कर सकता। पुरुष को कोई खींच नहीं सकता, उसे कोई छोटा नहीं कर सकता। हाँ, इंद्रियों के घड़े

में आकाश को घटाकाश बनाया जा सकता है, कल्पतरु के फूल को तोड़ कर वेणी का शृंगार किया जा सकता है !

वि०—[फिर हाथ जोड़ कर] क्षमा हो, प्रभु !

प्र०—मुझ से आकाश का शब्द कह रहा है कि तुम आज संन्यास समय नंदन कुंज में मेनका के हाथ से मधु-पात्र पी रहे हो। जाओ, पुरुष होकर नारी की कोमलता मधु-पात्र में भर कर पियो। और [सोचने हुए] मेनका, तू स्त्री होकर भी पुरुष है ! अच्छा, तुम दोनों के भविष्य का निर्माण भी मैं अपने समाप्त होते हुए क्षणों में करूँगा।

वि०—प्रभु, मेरा अपराध !.....

प्र०—मेरे साधना-गृह को तुम इस प्रकार अपवित्र नहीं कर सकते। आत्मा के पुण्य-गृह को तुम पाप की कालिमा से मलीन करना चाहते हो ? विद्याधर, मेनका से तुम्हारा प्रेम है तो प्रेम करने के लिए इंद्र के नंदन की भिक्षा माँगो। कलियों से कहो कि वे तुम्हारी इच्छा की आग में भी खिली रहें। पवन से कहो कि वह तुम्हारे संयोग में साँस बन कर सजीव हो जाय; किंतु तुम मेरे सहायक होकर मेरी पूजा में राख की दुर्गंधि नहीं भर सकते ! मैं जानता था कि गायक विद्याधर अंततः गायक ही है। जल हिम बन कर भी जल का गुण रखेगा। कमल सूख कर भी कमल ही रहेगा। तुम तपस्वी नहीं हो सके, विद्याधर ! गायक भी कहीं विचारक हुआ है !

वि०—प्रभु, गायिका सरस्वती देवी में विचार.....

प्र०—चुप रहो, विद्याधर ! उक्त, सरस्वती ! फिर वही आग ! फिर वही भयकर प्रतारणा ! विद्याधर, जाओ। मेरे वातावरण को और क्लृप्त मत करो। अभी पिता के कलंक कृत्य से पीड़ित हूँ। कहीं धीरे धीरे सेवक के कलंक-कृत्य से पीड़ित न हो जाऊँ। जाओ, तुम आज से मेरी सेवा में नहीं रहोगे। घुँघराली भलकों की भैंति विधर्मी, विद्याधर !

[विद्याधर का नत मस्तक होकर प्रस्थान ।]

वि० --[अशांत चित्त से] सरस्वती, गायिका होते हुए भी विचार कर सकती है ! उसने यह विचार नहीं किया कि पिता के चंचल हृदय को ठोकर मार कर स्थिर कर दे ? [ज़ोर से] मृष्टि, स्थिर हो । मैं तेरी मर्यादा सुरक्षित रखूँगा । अपने पद के इस अंतिम दिवस में भी तेरे लिए प्रबंध करके बिदा लूँगा ।

[नेपथ्य में विद्याधर 'की कंठ-ध्वनि- मेनका, मुझे सहारा दो... सहारा दो !']

वि० --[दुहराने हुए] सहारा दो ! मेनका और विद्याधर ! दोनों में एक दूसरे के प्रति आकर्षण जैसे जन्म और मृत्यु में परस्पर आकर्षण हो । जन्म और मृत्यु ..मृत्यु और जन्म ! इनमें कौन जन्म है और कौन मृत्यु !

[नेपथ्य में—प्रजापति की विजय हो ।]

प्र० --[घूम कर] कौन ? माया ?

[माया का प्रवेश । सुंदर युवती । श्वेत सारी जिनपर लहरों के चित्र, जो अस्थिरता के द्योतक हैं । वासंती शृंगार जिससे नश्वरता का बोध होता है । नेत्र विशाल जिनमें अंजन । कंठ में त्रिगुणमयी तीन पुष्प मालाएँ । मुक्त केश जिनसे सुगंधि शतमुखी होकर दिशाओं में वरदान की भाँति वितरित हो रही है । माथे में अरुण बिंदी जिसकी लालिमा में अपनी किरणों को डुबाकर बाल सूर्य प्रभात का चित्र खींचता है । हाथों में अंगराग और पुष्प-वलय । किंकर्णी और नूपुर । वह आकर प्रजापति को प्रणाम करती है ।]

मा० —प्रजापति के आज्ञानुसार पृथ्वी और चंद्र का निर्माण हो गया ।

प्र० —ठीक ! पृथ्वी में कौन सी विशेषता रखी है ?

मा० —वहाँ उत्साह से बने हुए पहाड़ हैं, प्रेम की गहरी नदियाँ हैं,

रूप के चंचल झरने है। लहर वहाँ अभिलाषा की तरह फैलती है। फूल कली के उभार में मुस्कुराते हैं। इंद्रधनुष आकाश में प्रेम की क्यारियाँ सप्त रंगों से सजाते हैं।

प्र०—और चढ़ ?

मा—कल्पवृक्ष के कुसुम के आकार का मैंने एक चित्र बनाया था। उसकी पंखुड़ियाँ मिटाकर मैंने उसी को गतिशीलता दे दी है। वह मिलन और वियोग की कसौटी है जिस पर हँसी और आँसू की रेखाएँ खींची जा सकेंगी। वह आशा की तरह घटना है और निराशा की तरह बढ़ता है। मसार की परिवर्तनशीलता का आकाश में जैसे प्रतिबिम्ब पड़ रहा हो, ऐसा वह दिखलाई देगा कि तु इस तरह उसे कोई समझेगा नहीं।

प्र०—माया, मेरी प्रेरणाओं को तुम इतना अच्छा आकार दे सकती हो ! तुम्हें मेरा वरदान है कि तुम्हारे चित्र मिथ्या होते हुए भी मृत्यु के समान प्रीति होंगे। अच्छा, तुम जाओ। अब मैं योग-साधन करूँगा। हाँ, तुम्हें एक बात मालूम है ?

मा०—क्या प्रजापति ?

प्र०—मेनका और विद्याधर ने मेरे साधन-कक्ष को प्रणय-गृह बना लिया था।

मा०—[विकृत स्वर से] यह श्रुति, प्रजापति !

प्र०—हाँ, मैं जानता था कि इस प्रकार की घटना हो सकती है। मलय और पवन को एक साथ रखने से सुगंध का फैलना स्वाभाविक होगा कि तु मैं यह जानना चाहता था कि गायक विद्याधर, तपस्वी हो सका है कि नहीं। यह उसकी छोटी सी परीक्षा थी और वह उसमें सफल नहीं हो सका। माया, प्रेम की भावना तो ऐसी होनी चाहिये कि उससे जीवन का अंत जीवन के आदि से अच्छा बन जाय।

मा०—किस प्रकार प्रभु !

प्र०—अभी तुम्हें ज्ञात हो जायगा । मेनका के प्रणय की एक मनोरंजक विकृति होगी !

मा०—प्रभु, प्रणय तो मेरी सबसे बड़ी शक्ति है ।

प्र०—जिसमें आँसू और हँसी साथ मिलकर जीवन का चित्र खींचते हैं । जिसमें विवशता का नाम आत्म-समर्पण हो जाता है ! इच्छा ऐसे व्यूह में घूमकर बढ़ती है कि उसका नाम प्रेम हो जाता है । जहाँ दो निर्विकार प्राण शरीरों के निकट स्पर्श की मादकता में फूल की सुगंधि पर बैठकर कोकिल के कंठ में गा उठते हैं और तब शरीर के प्रत्येक रोम की नोक पर सुख या दुःख ध्रुवलोक की भाँति स्थिर हो जाता है । और तब मुस्कान की रेखा में वसंत मचलने लगता है और कपोलों के हलके उभार की सीमा पर आँसू की रुकी हुई एक विकल बूंद में विषाद एक प्रलयकारी वर्षा की सृष्टि कर देता है । यही है न तुम्हारा प्रणय ?

मा०—किंतु प्रभु, इस क्रीड़ा में अमर सौंदर्य है ।

प्र०—वह सौंदर्य मेरे दृष्ट ने देखा है । आज ही कुछ क्षण पहले । अब उसकी चर्चा संसार में होगी । मेनका और विद्याधर की प्रेम-चर्चा !

मा०—प्रजापति, उनकी प्रेम-चर्चा तो इंद्रलोक तक फैली हुई है । पुरंदर ने दोनों की प्रणय-क्रीड़ा के लिए नंदन-वन के कुंजों में पुष्पो को चिरकाल खिले रहने की शिक्षा दी है । घृताची और तिलोत्तमा ने अपने दृष्टि-पथ पर अनंग को चलने की आज्ञा दी है ।

प्र०—क्यों ?

मा०—उर्वशी को विद्याधर की दृष्टि से बचाने के लिए पुरंदर और स्वर्ग की नव अप्सराओं ने मेनका को उससे प्रणय-निवेदन की आज्ञा दी है ।

प्र०—पुरुरवा की उर्वशी ?

मा०—प्रभु, आपका व्यंग मैं समझती हूँ। पुरंदर सौंदर्य के सामने ग्राह्य और अग्राह्य में अंतर नहीं समझते। गंधर्वों की सहायता से उन्होंने उर्वशी को फिर अपनी सभा में बुलवा लिया है। अब पुरुरवा का जीवन प्रलाप की कहानी बन गया है !

प्र०—और अश्विनी कुमारों ने बाधा नहीं डाली ?

मा०—प्रभु, अश्विनी कुमार दो हैं। उर्वशी ने अश्विनी कुमारों से कहा कि प्रेम केवल दो व्यक्तियों में होता है। सरिता के केवल दो किनारे होते हैं, तीन नहीं। आप दोनों परस्पर प्रेम कीजिए और मुझे छोड़ दीजिए। या फिर आप में से केवल एक मुझे प्रेम करे, दूसरा छोड़ दे। प्रेम केवल दो में होता है, तीन में नहीं। अश्विनी कुमार दो हैं। वे एक नहीं हो सके।

प्र०—[हँस कर] अश्विनी कुमारों को चाहिये कि वे ऐरावत के पैरों से दब कर एक हो जाते ! बेचारे दा ! तब तो माया उनकी बात का विश्वास क्या ? वे दो मुँह से बोलते होंगे।

मा०—[हँस कर] प्रभु, उनसे कोई एकांत में बात ही नहीं कर सकता। और उनसे तो प्रेम हो ही नहीं सकता। सूर्य और चंद्र एक साथ हो तो न दिन है न रात।

प्र०—[स्मरण कर] आह रात ! अंधकार ! माया तुम जाओ। मैं चित्तन करूँगा।

मा०—फिर प्रभु, विद्याधर और मेनका के संबंध में आपने कोई निर्णय नहीं दिया !

प्र०—हाँ, उनके संबंध में मेरा निर्णय है।

मा०—आज्ञा।

प्र०—मेनका को पुरुष रूप में और विद्याधर को स्त्री रूप में संसार के क्रोध में भेजना होगा।

मा०—यह रूप-परिवर्तन क्यों ?

प्र०—मेनका में विजय-गर्व है, यह पुरुष की विशेषता है, और विद्याधर में आत्म-समर्पण, यह स्त्री की विशेषता है। उनके इन चित्रों से पृथ्वी के चित्रपट पर कुछ प्रयोग कहेँगा। इसमें मेरे दंड की व्यवस्था भी होगी उनकी दुर्विनीतता के लिए।

मा०—जो आज्ञा। मैं जाऊँ ?

प्र०—हाँ, विश्वात्मा की प्रार्थना के लिए पुष्प-हार लाओ।

मा०—अभी लाई।

प्र०—[सोचते हुए] विश्वात्मा की इच्छा। स्त्री और पुरुष का निर्माण। पृथ्वी पर जीवन की सृष्टि। मेरी सदिच्छा की प्रेरणा से विश्वसुत के शरीर का विभाजन। [माया नील कमल का हार एक स्वर्ण-थाल में प्रस्तुत करती है। प्रजापति कमल-हार स्वीकार करते है। माया प्रणाम करके जाती है। प्रजापति कुछ देर तक हार हाथों में फेरते हुए सोचते है। फिर दोनों हाथों में हार उठाकर नत मस्तक हो आँखें बंद कर खड़े रहते हैं।]

प्र०—[नेत्र बंद किए हुए] सत्, चित्, आनंद।

[कुछ क्षण शांति। फिर द्वार पर शब्द।]

प्र०—[आँखें खोल कर] कौन ? आओ।

[अश्विनी कुमारों का प्रवेश। दोनों का एक ही रूप। दोनों वदु-वेष में हैं। पीत वस्त्र। मुक्त केश। माथे पर पीत चंदन। पैर में पादुकाएँ।]

दोनों—[क्रम से] एक—दो—एक—दो—

प्र०—उर्वशी का सिखलाया हुआ यह संख्या-पाठ ! विश्वात्मा का नाम लो। केवल एक।

प्रथम अश्विनी०—प्रभु ! उर्वशी का नाम । उर्वशी ।

द्वितीय अश्विनी०—प्रभु ! उर्वशी का प्रेम । उर्वशी ।

प्र०—[प्र० अ० से] तुम कहते हो नाम [द्वि० अ० से] तुम कहते हो प्रेम । एक बात कहो तो कुछ समझ में आए ।

प्र० अ०—नाम ।

द्वि० अ०—प्रेम ।

प्र०—अच्छा प्रेम का नाम । हाँ, कैसी उर्वशी ?

प्र० अ०—प्रभु, पुरंदर स्वार्थी है । वह उर्वशी से प्रेम करने के लिए मुझे मार्ग से हटाना चाहता है ।

द्वि० अ०—हटाना चाहता है, प्रभु ।

प्र०—हाँ, अब एक बात कहते हो ।

प्र० अ०—पुरंदर ने उर्वशी को न जाने क्या सिखला दिया ! वह कहती है, सरिता के किनारे दो हाते है, तीन नहीं ।

द्वि० अ०—मैंने कहा—चार किनारे कर लो । तालाब बन जाओ । हम अपने साथ प्रजापति को ले आएंगे । हम लाग तीन हो जायेंगे, तुम चौथी हो जाना ।

प्र०—मैं उर्वशी से प्रेम करूँ ?

द्वि० अ०—क्या हानि है ।

प्र० अ०—कोई हानि नहीं ।

प्र०—[अधिकार स्वर से] अश्विनी कुमार, तुम लाग यदि मेरा नाम लागे तो मैं याग-साधन से तुम्हें दंड दूँगा । सावधान । तेल और पानी नहीं मिल सकते । मेरा प्रेम तरल है किंतु वह ईश्वर के स्नेह में है । तुम्हारा प्रेम तरल है किंतु वह दैनिक जीवन में है । स्नेह और जीवन का अलग रहने दो । मेरे लिए । केवल मेरे लिए ।

प्र० अ०—क्षमा कीजिये, प्रभु ! दोषी हूँ ।

द्वि० अ०—क्षमा कीजिए, प्रभु ! मैं भी अदोषी नहीं हूँ ।

प्र०—एक ही बात किंतु भिन्न शब्द । तुम लोग स्वभाव से रूखे हो, प्रेम नहीं कर सकते । प्रेम के लिए आवश्यकता है मुस्कान की । तुम मुस्करा नहीं सकते ।

प्र० अ०—प्रभु, मैंने उर्वशी को मोहित करने के लिए अश्व का मस्तक उतार कर फेंक दिया । देवताओं का मुख धारण किया और मुस्कान उत्पन्न की, फिर भी उर्वशी...

द्वि० अ०—प्रभु, सूरों का मुख धारण किया, फिर भी उर्वशी !.....

प्र०—घोड़े का मुख बदल जाय, किंतु स्वभाव तो नहीं बदल सकता ?

प्र० अ०—प्रभु, उर्वशी को आप घोड़ी बना दीजिए ।

द्वि० अ०—अश्विनी बना दीजिए, प्रभु !

प्र०—[हँस कर] फिर तुम्हारी माँ भी अश्विनी और स्त्री भी अश्विनी ! देवताओं को अधिक लांछित मत करो, अश्विनी कुमार !

प्र० अ०—प्रभु, प्रेम में क्या स्त्री और क्या अश्विनी !

द्वि० अ०—प्रेम में क्या.....

प्र०—तुम लोग वीणा के दो तारों की तरह हो, मिल कर भी अलग हो । देखो, तुम ऐरावत को जानते हो ?

प्र० अ०—हाँ प्रभु, पुरंदर का हाथी । समुद्र मंथन का चौथा रत्न ।

द्वि० अ०—हाँ, प्रभु, पाँचवें रत्न कौस्तुभ पद्मराग मणि के पूर्व का चौथा रत्न ।

प्र०—उस ऐरावत के पैरों से दब कर दोनों एक नहीं हो सकते ? अमर होने से तुम लोग मर नहीं सकते किंतु एक हो सकते हो ।

प्र० अ०—प्रभु, यदि उसने हृदय पर पैर रख दिया तो प्रेम की भावना ही गई—उर्वशी तो दूर की बात है ।

द्वि० अ०—प्रभु, फिर उर्वशी गई !

प्र० अ०—और पुरंदर हम लोगो से जलता है । उसने यज्ञ के देवों में हमें नहीं लिया । अकेला सोमरस पीता है और हम लोग मुँह देखते हैं ।

द्वि० अ०—कभी इसका, कभी उसका ।

प्र०—और उर्वशी का ?

प्र० अ०—प्रभु, उर्वशी मिल जाय तो मैं अपने रथ पर बिठला कर मग्नोदय में पहले ही उसके मुख से प्रकाश फैला दूँगा । पक्षियों में खाँचा जाने वाला हमारा रथ सदैव सूर्य के रथ से आगे रहता है ।

द्वि० अ०—प्रभु, उर्वशी मिल जाय तो मैं अपने रथ पर बिठला कर चंद्रोदय में पहले ही उसके मुख से प्रकाश फैला दूँगा । पक्षियों से ग्वाँचा जाने वाला हमारा रथ सदैव चन्द्र के रथ से आगे रहता है ।

प्र०—तुम दोनों प्रकाश के पूर्व की धुँधली ज्योति हो, प्रकाश के बीज हो । मैं तुम्हारा हित कर सकता हूँ । किंतु तुम यदि एक हो सको तो अच्छा है ।

प्र० अ०—प्रभु, च्यवन ऋषि को युवक बनाने में हम दोनों का हाथ है ।

द्वि० अ०—प्रभु, सिद्ध निर्मित सरोवर में च्यवन को हम दोनों ने नहला कर युवक बनाया । सती मुकुन्द्या का आशीर्वाद हम दोनों को प्राप्त है । हम एक कैसे हो सकते हैं प्रभु !

प्र०—तुम दोनों दो नेत्रों की तरह हो । एक ही दृश्य देखते हो किंतु मप में अलग अलग । अच्छा है, तुम लोग अलग ही रहो ।

० अ०—मैं प्रकाश का रूप हूँ ।

द्वि० अ०—मैं अंधकार का रूप हूँ ।

प्र०—ओह, अंधकार ! तुम लोगो में से भी एक अंधकार का समर्थक है । जाओ, तुम लोग ! अंधकार...अंधकार...फिर याद दिला दी !

प्र० अ०—[जाते हुए करुण स्वर में] आह, उर्वशी

द्वि० अ०—[जाते हुए करुण स्वर में] आह, उर्वशी.....

प्र०—जाओ, वेद्यक से देवताओं को प्रसन्न करो पहले । फिर 'आह उर्वशी', 'आह उर्वशी', कहना ।...ये भी अंधकार के अप्रदूत हैं । मैं पुरुष और स्त्री के निर्माण से इस अंधकार को अवश्य दूर करने की चेष्टा करूँगा ।

[दरवाज़े पर शब्द ।]

प्र०—कौन...? आओ । [सोच कर] ओह, मेनका...की... जीवात्मा...!

[एक जीवात्मा का प्रवेश । श्वेत वस्त्र में सुमज्जित ।]

जीवात्मा—[अंधे की तरह लडखडाते हुए] सत्, चित्, आनंद ।

प्र०—आओ, आओ । तुम जागे ?

जी०—[आँखें खोल कर] कौन ?

प्र०—मैं, प्रजापति । सृष्टि का रचयिता । अपने मन्वतर के अंत में मेरे द्वारा तुम्हारा निर्माण । तुम जीव हो । विश्वात्मा की इच्छा और मेरे सहयोग से उत्पन्न । विश्वगुरु के शरीर के भाग ! विश्वात्मा के रूप ।

जी०—[धीरे धीरे दुहराता हुआ] विश्वात्मा...के...रूप...!

प्र०—[दृढ़ता में] तुम विश्वात्मा के रूप, उसके अंश हो ।

जी०—जैसे प्रकाश की किरणों को विभाजित कर दिया । सागर की लहरों को स्थिर कर तट पर रख दिया । वैसे ही अनुभव हुआ, जागृति की एक लहर आई और भुझमें समा कर लौट गई ! यह जागृति, यह स्पंदन ! [हृदय झूता है ।] देखो, प्रजापति !

प्र०—[जीवात्मा का हृदय स्पर्श करते हुए] हाँ, स्पंदन हो रहा है ।
विश्वात्मा की अनंत शक्ति से तुम जागे हो ।

[जीवात्मा चकित होकर शून्य में देखता है ।]

प्र०—विस्मित होकर क्या देख रहे हो ?

जी०—[विह्वल होकर] प्रकाश, आनंद, उल्लास, सौंदर्य । सीमा नहीं है । प्रत्येक का एक एक आकाश है । उसमें वही, सब कुछ वही । और वह आकाश मुझसे निकलकर मुझी में समा रहा है !

प्र०—[मुस्करा कर] इतना अधिक !

जी०—बहुत अधिक, असह्य !

प्र०—तो भू-मंडल में चले जाओ । संभव है, यह उल्लास, यह सौंदर्य कुछ कम हो जावे । भू-मंडल में देखना—इतना प्रकाश, इतना आनंद—इतना उल्लास है या नहीं ।

जी०—[आश्चर्य में] भू-मंडल ?

प्र०—हाँ, भू-मंडल ।

जी०—कहाँ है ?

प्र०—इधर आओ । [दक्षिण द्वार की ओर ले जाकर शून्य में सकेत करते हुए] देखो, इधर क्या है ?

जी०—[आश्चर्य चकित होकर] अनेक प्रकाश-पिंड, बड़े और छोटे । कितनी गति से घूम रहे हैं ! [प्रसन्नता से] अरे, यह कितने पास आ रहा है । ओहो, यह आया ! [प्रजापति से] प्रजापति, बचो । अरे, यह घूम कर उधर चला गया ! [प्रजापति की ओर देख कर आश्चर्य चकित] प्रजा...पति ?

प्र०—ये अनेक सौर मंडल हैं । सहस्रों सूर्य और उनकी प्रदक्षिणा करनेवाले अनेक ग्रह और उपग्रह । देखो, वह सूर्य देखो ! वह अंतरिक्ष के

मध्य भाग में स्थित है। भूलोक और व्युलोक के मध्य स्थान का नाम अंतरिक्ष है। उसी में सूर्य गतिशील होता है।

जी०—[जिज्ञासा से] सूर्य से क्या होता है ?

प्र०—जीवन का प्रकाश, आनंद उल्लास। उत्तरायण, दक्षिणायन और विषुवत् गतियों में जैसे सूर्य का उत्थान, पतन और समत्व होता है।

जी०—[उँगली से संकेत कर] और वह स्तूप क्या है ?

प्र०—वह मेरु पर्वत है। उसी के चारों ओर सूर्य प्रदक्षिणा करता है। उस मेरु के उत्तर में इंद्र की नगरी देवधानी है, दक्षिण में यमराज की नगरी संयमनी है, पश्चिम में वरुण की नगरी निम्लोचनी है और उत्तर में कृबेर की नगरी विभावरी है।

जी०—इनमें से ही किसी स्थान पर मुझे भेज दीजिए।

प्र०—नहीं, तुम्हें भू-मंडल में जाना होगा, पृथ्वी पर।

जी०—पृथ्वी कहाँ है ?

प्र०—[दिखलाते हुए] देखो, उस कोने में जो सब से छोटा सूर्य है, उसके चारों ओर बिंदु घूम रहे हैं, उन्हें देखते हो ?

जी०—[भौंहें मिकोड कर झुकते हुए] ओह, बहुत छोटे छोटे हैं !

प्र०—उन्हीं में एक बिंदु है जिसकी प्रदक्षिणा एक और छोटा बिंदु कर रहा है उसे चंद्र कहते हैं। वही भू-मंडल है। दिखा ?

जी०—[देखते हुए] हाँ, कुछ-कुछ दीख रहा है। बहुत छोटा है। वह तो मेरा अणु मात्र भी नहीं है। मैं उसमें समाऊँगा कैसे ?

प्र०—मैं तुम्हें कल्पना का शरीर दूँगा। उसी में संचित होकर तुम जाओगे।

जी०—मैं समझ ही नहीं सकता, प्रजापति। जहाँ इतने बड़े आकाश मुझमें मिल रहे हैं, वहाँ भू-मंडल में मैं अपने को किस प्रकार बंद करूँगा ?

प्र० एक चंचल स्वप्न के पंख पर उड़ कर तुम वहाँ पहुँच जाओगे और तब तुम्हें वही भू-मंडल अपनी आशा से भी बड़ा ज्ञात होगा। और जिस शरीर में तुम जाओगे वह एक नगर से किसी भाँति भी कम न होगा। उसमें एक राजा होगा पुरंजय की तरह। उसकी एक सुंदर स्त्री होगी। उसकी रक्षा एक बड़ा भारी साँप करेगा। उस नगर के दस दरवाज़े होंगे ?

जी०—तुम मुझे आश्चर्य में डाल रहे हो, प्रजापति !

प्र०—नहीं, वह भू-मंडल बहुत मनोरंजक स्थान है। आओ, बैठो, तुम्हें सुनाऊँ। [दोनों छोटी पीठिकाओं पर बैठते हैं।]

जी०—[बैठते हुए] बहुत मनोरंजक स्थान है वह ?

प्र०—हाँ, वहाँ एक ठोस चमकदार मिट्टी होगी। उसका नाम होगा 'सोना'। वहाँ का जीव उस मिट्टी की परिधि में बिंदु बन कर बैठेगा और उसी में चक्कर लगायगा। वह उस मिट्टी का सिंहासन बना कर उस पर ईश्वर को बिठलाने के बदले स्वयं बैठ जायगा। और अपने साथियों से कहेगा कि वे उस सिंहासन को उठा कर चले। वह उस मिट्टी के रंग से पाप को भी पुण्य बना देगा। हाँ, पाप को भी पुण्य !

जी०—असंभव बातें मत कहो, प्रजापति !

प्र०—ये असंभव बातें नहीं हैं। जब तुम वहाँ जाओगे तो उसी 'सोने' से अपने साथियों में भेद उत्पन्न करोगे। कोई होगा राजा, कोई होगा किसान। कोई स्वामी होगा, कोई श्रमजीवी। यह सुनहली मिट्टी जिसके पास जितनी अधिक होगी वह उतना ही बड़ा-हाँ, उतना ही बड़ा। वह अपने को ब्रह्म से भी बड़ा समझेगा। राजा कहेगा—अन्न उत्पन्न करो और मेरा कोष भरो, किसान अन्न उत्पन्न करेगा और राजा का कोष भरेगा। स्वामी कहेगा—काम करो और भूखे रहो। सेवक काम करेगा और भूखा रहेगा।

जी०—[आश्चर्य से] बड़ी विचित्र बात होगी ! ऐसे 'सोने' को जरूर देखूंगा ।

प्र०—हाँ, जाओ । मैं तुम्हें वहाँ पुरुष बना कर भेजूंगा ।

जी०—पुरुष क्या ?

प्र०—शक्ति के संचित कोष का नाम 'पुरुष' है । किंतु वहाँ प्रायः ऐसे अवसर आवेंगे जहाँ पुरुष शक्ति के प्रयोग से अपना ही नाश करेगा । वह ऐसे यत्न निकालेगा जो दैत्य बन कर उसे खा जायेंगे । वह अपने विनाश के बीज बोकर कहेगा कि मैं अमर हूँ । किंतु तुम । तुम्हें मैं आज्ञा देता हूँ कि तुम वहाँ जाकर जहाँ तक हो सके अंधकार से युद्ध करोगे । उसका विनाश करोगे । यही मेरी आज्ञा है । मैं समस्त पापाचार का अंत देखना चाहता हूँ ।

जी०—पापाचार मैं नहीं जानता, प्रजापति !

प्र०—पापाचार ? जब तुम अपने उस कल्पना के शरीर से अपनी आत्मा पर बैठ जाओगे तो पापाचार होगा । अपने सेवकों को जब तुम स्वामी बना कर स्वयं उनके सेवक होगे तो पापाचार होगा । इच्छा के ऐरावत पर बैठ कर जब तुम आत्मा को पदचर बना लोगे तो पापाचार होगा । जब तुम अपनी पवित्र भावनाओं के पिता होते हुए स्वयं उत्पन्न की हुई निधियों से प्रेम करोगे तो पापाचार होगा ।

जी०—यह तो बड़ी भयानक बात होगी प्रजापति !

प्र०—तुम्हें इस भयानकता का विनाश करना होगा । मैं यह उत्तर-दायित्व तुम्हें देता हूँ ।

जी०—स्वीकार करता हूँ । अब मैं जाऊँ !

प्र०—तुम्हें तीस वर्ष की आयु देता हूँ । तुम मेरे पास केवल तीस

क्षणों में आ जाओगे क्योंकि मेरा एक क्षण तुम्हारे एक वर्ष के समान होगा ।
तुम मेरे और अपने बीच से सँस की दीवाल उठाओगे ।

जी०—जो आज । मैं भू-मंडल का रास्ता तो नहीं भूलूँगा ?

प्र०—तुम वायु का रूप कर बह जाओ । तुम्हारे लिए पुरुष का शरीर
प्रस्तुत हो चुका है माया के द्वारा । तुम साँस बन कर उसी शरीर में प्रवेश
कर जाओगे । मेरी शक्ति तुम्हारा पथप्रदर्शन करेगी ।

जी०—बहुत अच्छा । सत् चित्...आनंद... ।

[जीवात्मा का प्रस्थान]

प्र०—[सोचते हुए] आज मेरे मन्वन्तर का अंतिम दिन है । मैं
चाहता हूँ कि दूसरे प्रजापति के आने के पूर्व मैं भू-मंडल में पुरुष, स्त्री की
सृष्टि कर दूँ । मैं गतिशीलता में प्राण भरना चाहता हूँ । मैं पुष्प में सुगंधि
भरना चाहता हूँ । अंधकार का विनाश मेरे जीवन का उद्देश्य होगा ।
हाँ.. अंधकार का विनाश । पिता के पापाचार की स्मृति-रेखा का काला चिह्न
उज्ज्वलता में लीन होकर मार्तंड की भाँति चमकने लगे ।

[दरवाज़े पर शब्द]

प्र०—कौन ? [स्मरण कर] ओह, विद्याधर की आत्मा ? मेरे अभि-
शाप की पूर्ति ! [ज़ोर से] आओ ।

[विद्याधर की आत्मा का प्रवेश ।]

प्र०—तुम कहाँ से आ रहे हो ?

जी०—जागृति के अथाह सागर से ।

प्र०—[व्यंग्य से] नंदन कुंज से नहीं ? देखो बत्स, क्या तुम ऐसी
लहर बनना चाहते हो जिसमें किसी इंद्रधनुष का प्रतिबिंब पड़े ?

जी०—[आश्चर्य से] कैसे इंद्रधनुष का ?

प्र०—भू-मंडल में प्रेम का ।

जी०—प्रेम क्या ?

प्र०—[हँस कर] ओह, प्रेम ? उससे लोग दिन में हँसते और रात में रोते हैं ।

जी०—[आश्चर्य से] रात में रोते हैं ?

प्र०—हाँ, भू-मंडल में दो प्रकार के व्यक्ति होंगे । भू-मंडल जानते हो, कहाँ है ?

जी०—कहाँ है ?

प्र०—देखो, उस सौर मंडल में । किंतु तुम चिंता मत करो । मैं तुम्हें वहाँ अभी पहुँचा दूँगा ।

जी०—बहुत अच्छा ।

प्र०—मैं प्रजापति हूँ । मैं तुम्हें वहाँ अभी भेजूँगा । स्त्री बना कर । हाँ, उस भू-मंडल में दो प्रकार के व्यक्ति होंगे । एक का नाम है पुरुष, दूसरे का स्त्री । कभी पुरुष कठोर और स्त्री कोमल और कभी स्त्री कठोर और पुरुष कोमल !

जी०—दोनों कोमल नहीं होते ?

प्र०—होते हैं किंतु दोनों की कोमलता का अर्थ प्रेम न होकर विवाह होता है । स्त्री को पुरुष के लिए कोमल बनना पड़ता है और पुरुष को स्त्री के लिए । इसी आत्म बलिदान का नाम 'विवाह' है ।

जी०—विवाह ?

प्र०—हाँ, विवाह और प्रेम में अंतर है । विवाह कहते हैं ऐसी हँसी को जिसमें रोना छिपा रहता है और प्रेम कहते हैं ऐसे रोने को जिसमें हँसी छिपी रहती है । संसार के लोग प्रायः ऐसे रोने को विशेष पसंद करेंगे जिसमें हँसी छिपी रहती है ।

जी०—और जो लोग रोना और हँसना नहीं जानते वे लोग ?

प्र०—ऐसे लोग पत्थर की तरह होंगे। कोई ठोकर मार दे तो ठीक है, कोई ईश्वर बना कर पूज ले तो ठीक है। संसार के लोगों के लिए रोना और हँसना आवश्यक है।

जी०—आवश्यक है ?

प्र०—हाँ, अन्यथा वे लोग संसार छोड़ दे। बहुत से ज्ञानी लोग राना और हँसना छोड़ कर वन में प्रवेश करेंगे किंतु ऐसा करने से वे 'मनुष्य' न हो रहेंगे। वे हो जावेगे वन के पेड़, पहाड़ के पत्थर।

जी०—मैं क्या करूँगा ?

प्र०—तुम ? तुम स्त्री बन कर पहले तो रोना सीखोगे। बाद में तुम्हें रोजे को हँसी बनाना होगा। मैं चाहता हूँ कि तुम स्त्री होकर भी देवी बनो। पतिव्रता होना सीखो !

जी०—पतिव्रता क्या ?

प्र०—विवाह में मिले हुए पति की छाया में समा जाना होगा। उसके काँटों को गूँथ कर कहो कि यह कमल की माला है। उसके चरणों का नाम हो तुम्हारा मस्तक। उसकी अंधी आँखें तुम्हारी दृष्टि हों, उसका लंगड़ा पैर तुम्हारी गति हो। उसके बधिर कान तुम्हारी श्रवण-शक्ति हो। उसकी दीनता तुम्हारी संपत्ति हो। और वत्स, उसकी विरह-रात्रि में मिलन का प्रभात झलकता हो।

जी०—विरह-रात्रि किसे कहते हैं, प्रजापति ?

प्र०—विरह-रात्रि ? ओह, विरह-रात्रि उसे कहते हैं जिसमें तारों में अंगार के अंकुर निकलते हैं, चंद्रमा एक ज्वालामुखी का मुख दीख पड़ता है और कली के विकास में तीर खिलता है; सुगंधि चुपचाप आकर उस लेती है।

जी०—तो वहाँ मैं नहीं जाऊँगा। प्रजापति !

प्र०—अनुभव प्राप्त करो, वत्स । सुगंधि से डसे जाने पर यहाँ के कल्प-वृक्ष में तुम्हें सच्ची शांति मिलेगी । चंद्रमा अपने अमृत से तुम्हारे पैर धो देगा ।

जी०—सचमुच !

प्र०—निस्संदेह ।

जी०—अच्छा, तब चला जाऊँगा । किंतु मैं किस प्रकार वहाँ पहुँचूँ ?

प्र०—सोकर । तुम जाग कर वहाँ नहीं पहुँच सकते । तुम्हें सोना ही होगा । वेश बदल कर हुम वहाँ जाओगे--सोते हुए । तभी तुम वहाँ के अनुभव प्राप्त करोगे । अपनी नींद में स्वप्न की भाँति ।

जी०—फिर जागूँगा कैसे ?

प्र०—विश्वात्मा की इच्छा से । इस नींद को भू-मंडल में जीवन कहते हैं !

जी०—[आश्चर्य से] जीवन कहते हैं ! बड़े विचित्र व्यक्ति हैं वहाँ के ! तब तो सत्य को मिथ्या और मिथ्या को सत्य कहने वाले ही व्यक्ति वहाँ होंगे ?

प्र०—तभी तो तुम्हारे अनुभव यहाँ से भिन्न होंगे । तुम यहाँ के अनुभवों से भिन्न नवीन अनुभव प्राप्त करोगे ।

जी०—[सोचते हुए] नींद को कहते हैं जीवन ! आनंद को कहते होंगे पीड़ा । और प्रकाश को कहते होंगे अंधकार !

प्र०—हाँ, अंधकार । तुमने अच्छा स्मरण दिलाया । तुम्हें वहाँ अंधकार का नाश करना होगा ।

जी०—कैसे अंधकार का ?

प्र०—वह अंधकार जो पाप से उत्पन्न है । जिसके तामसी रहस्य में पाप के विकास की सीमाएँ बहुत दूर तक फैल जाती हैं ।

जी०—किस प्रकार नाश करूँगा ?

प्र०—अपने मस्तिष्क की शक्ति से । अंधकार को प्रकाश में परिवर्तित करना होगा । मैं तुम्हें स्त्री का रूप दूँगा । ऐसी स्त्री जो अपने कोड में ज्वालामुखी की शक्ति से जीवित रहेगी । वह चाहेगी तो आग में जल को शीतलता उत्पन्न करेगी और यदि चाहेगी तो जल की शीतलता में आग उत्पन्न करेगी ।

जी०—उमे प्रेम करने का अधिकार तो होगा ही ? आपने अभी कहा था ।

प्र०—सब से अधिक । किंतु वह अपने प्रेम को भाषा में प्रकट न कर सकेगी । एक मुस्कान और दो आँसू ही उसके प्रेम की भाषा होगी । प्रेम की आशा में मौन और प्रेम को निराशा में भी मौन । लेकिन इस प्रेम को निराशा में उसका जीवन अस् बन कर बहेगा । इस आकाश गंगा की भाँति । कर्ण क्रितु शब्दहीन !

जी०—मैं ऐसे प्रेम को निवाह सकूँगा ?

प्र०—यदि आत्म-हत्या या प्राणदंड से बचे रहे तो ।

जी०—अच्छा, तो अब जाऊँ ? आपको आज्ञा है ?

प्र०—सन्, विन्, आनंद !

[जीवात्मा का प्रस्थान ।]

प्र०—[पुकार कर] माया ! [माया का प्रवेश ।]

प्र०—माया ! मेने विद्याधर को स्त्री और मेनका का पुत्र बना कर संसार में भेज दिया है । इनके द्वारा मैं अंधकार का नाश करूँगा । प्रतिभा, मधा और वाक्शक्ति से अज्ञान एक क्षण में नष्ट हो जायगा ।

मा०—प्रभु, अंधकार का रहना आवश्यक है ।

प्र०—क्यों ?

मा०—अंधकार में ही मेरा निर्माण-कार्य होगा। रात को कली सोयेगी, अंधकार के बाद वह फूल बन कर उठेगी। संध्या समय वृद्ध सूर्य अस्त होकर अंधकार के बाद बाल-रवि होकर तेज-संपन्न होगा। अंधकार के भीतर ही चंद्र के शीश पर कला का अभिषेक होगा या प्रेमी की भाँति वह कला-हीन होगा। अंधकार में ही स्वप्न होंगे और उन स्वप्नों में ही ब्रीडा की उषा में स्नात मौन निमंत्रण साकार होगा। प्रतीक्षा के वृंत पर मिलन का फूल धीरे से अपनी पँखुड़ी में पराग-रेखा का बाहु-पाश बनायेगा। ज्योत्स्ना में उमंगो के हिंदोल पर कितने हृदयों की ध्वनि प्रेम का वृत्त बनायेगी ! प्रभु, अंधकार का रहना आवश्यक है ! अंधकार तो जैसे प्रकृति का विश्राम होगा।

प्र०—विश्राम !

मा०—हाँ प्रभु, विश्राम ही मे रहस्य का निर्माण होता है। फिर एक बात और भी है। यौवन का विकास छिप कर होता है। यदि वह प्रकाश में नेत्रों के सामने हो तो उसका सारा रहस्य, सारा कौतूहल, सारा आकर्षण वैसा ही हो जायगा जैसे किरणों का स्पष्ट रूप से बढ़ता हुआ उत्ताप। तब वह यौवन किरणों की भाँति गरम होकर सारी पृथ्वी को झुलसा देगा। उसमें अनुराग के उभार की कोमल उष्णता न रहेगी।

प्र०—माया, मैं इस यौवन से ही संसार को जलाना चाहता हूँ। इस तरह जलाऊँ कि संसार एक जलता हुआ अंगार बना रहे और उसकी उन विनाशकारी किरणों से अंधकार प्रकाश में परिवर्तित हो जाय।

मा०—जैसी आज्ञा प्रभु, किंतु जिस प्रकार उज्ज्वल फूल के विकास के लिए काली मिट्टी की आवश्यकता है, पुण्य के विकास के लिए पाप की पृष्ठ-भूमि है, उसी प्रकार प्रकाश के विकास के लिए अंधकार की भूमि भी चाहिये।

प्र०—ठीक है, किंतु मेरा निर्णय ऐसा नहीं होगा। जाओ, सप्तर्षियों से कहना कि वे एक क्षण को मुझे दर्शन दें।

मा०—जो आज्ञा । [जाती है किंतु रुक कर] किंतु प्रभु सप्तर्षि धर्म की व्यवस्था के सिद्धांत सोच रहे हैं । केवल कश्यप समाधि से जाते हैं । वे अपनी धर्मपत्नी अदिति की उदासी दूर करने की चेष्टा में हैं ।

प्र०—अच्छा ! कश्यप से कहना कि भगवान के अवतार से अदिति की उदासी दूर होगी । और सप्तर्षि इतनी शीघ्रता से मेरी आज्ञा के पालन में प्रवृत्त हो गए ?

मा०—आपकी आज्ञा प्रमाण है, प्रभु !

प्र०—अच्छा, मेरे पुत्र कश्यप ही को भेजो ।

मा०—जो आज्ञा ।

प्र०—अत्रि, वशिष्ठ, विश्वामित्र, गाँतम, जमदग्नि, और भरद्वाज ! तुम धर्म की व्यवस्था करो । मैं तुम्हारी सहायता करूँगा । ऐसा धर्म बना-ऊँगा जिससे अंधकार कहीं रहेगा भी नहीं । वत्स कश्यप, तुम मेरे सह-योगी बनो ।

[द्वार पर शब्द होता है ।]

प्र०—वत्स कश्यप, चले आओ ।

[कश्यप का प्रवेश । ऊँचा कूट । कमल के समान ओम्बे । गिर पर लंबी जटाएँ । वल्कल वस्त्र । बिना खरादी हुई मणि के सदृश सुखे शरीर में कांति । कुश और काम का लिपटा हुआ आसन कक्ष-भाग में दबा हुआ है । वे उसी भाँति प्रवेश करते हैं जैसे लडकियों के संघर्ष से आग उत्पन्न होती है ।]

प्र०—वत्स कश्यप, क्या कर रहे थे ?

क०—अग्निहोत्र शाला में हवन कर...

प्र०—मैं मानता हूँ । अदिति को पुत्र की उच्छा है । स्वयं ब्रह्मा उनमें

अवतार लेंगे । किंतु कश्यप, तुम जानते हो—मेरी ही आज्ञा से पवन चलता है, सूर्य तपता है, मेघ बरसते हैं, आग जलती है । मैं प्रजापति हूँ । मैंने अपनी शक्ति से स्त्री और पुरुष का निर्माण किया है । क्या पुरुष और स्त्री मेरे मन से अंधकार का नाश नहीं करेंगे ? मैं इस समय ब्रह्म की शक्ति का प्रतीक हूँ । पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश महाभूतों के साथ मैंने गंध रस, रूप, स्पर्श और शब्द का निर्माण किया है । क्या ये विषय और स्त्री के लिए पर्याप्त न होंगे ?

क० - क्या आपने स्त्री और पुरुष का निर्माण कर दिया है ?

प्र०—कुछ क्षण पहले । अपने मन्वंतर में नवीन ढंग से ।

क०—पितृदेव, स्त्री और पुरुष की सृष्टि अपूर्ण हुई !

प्र०—[भौंहे सिकोड़ कर] क्यों ?

क० - क्योंकि वे प्रलय के अंधकार में समा जायेंगे ।

प्र०—किंतु स्त्री और पुरुष के निर्माण के बाद अंधकार रह कैसे सकेगा ?

क०—यक्षों और राक्षसों के पालनार्थ प्रभु ! रात्रि यक्षों और राक्षसों की है । उन्हीं की भूख-प्यास अंधकार में शांत होती है । यक्षों और राक्षसों के जीवन के लिए अधिकार आवश्यक है ।

प्र०—ठीक है कश्यप, किंतु.....

क०—प्रभु, देवताओं की सात्विक भावनाओं के साथ राक्षसों को तामसिक भावनाएँ भी रहेंगी । ब्रह्म तो सबका पालन करते हैं और इसी प्रकार सृष्टि को संतुलित करते हैं ।

प्र०—तुम भी अधिकार का पक्ष ग्रहण करते हो कश्यप ? तुम कच्छप रूप से उत्पन्न हुए थे । अतः तुम्हें भी अपने पूर्व स्वभाव से अंधकार और कच्छप का काला रंग अच्छा लगता है ।

क०—प्रभु, मुझे तो सभी रंग अच्छे लगते हैं। सब रंगों में प्रभु की कांति है। किंतु यह सोचिए प्रभु, यदि अंधकार न होगा तो पुरुष और देवताओं में अंतर हो क्या रह जायगा ? [एकाएक चौंकर] प्रभु, यह क्या ! अरे, यह परिवर्तन कैसा !

प्र०—कश्यप, कुछ मत कहो, मैं जानता हूँ।

क०—किंतु प्रभु, अब आपकी नवीन सृष्टि क्या होगी ? आप उसे कार्यशील होते हुए देख भी नहीं सके। प्रभु !

प्र०—मुझे चिंता नहीं है, कश्यप !

क०—प्रभु, आपका हीरक पदिक धूमिल दीख रहा है। आप दुर्बल होते जा रहे हैं। आपका मन्वंतर समाप्त हो गया, जात होता है।

प्र०—हाँ, मन्वंतर समाप्त हो गया। इसीलिए प्रजापति का यह चिह्न धूमिल होता जा रहा है। [कंठ का हीरक-पदिक दिखलाते हैं]।

क०—इसी के मलीन होने से आप क्षीण होते जा रहे हैं। [कुछ प्रकाश बुझ जाता है]। आपकी शक्ति शेष होती जा रही है। आपके कक्ष में अंधकार होता जा रहा है।

प्र०—कश्यप, मैं अब मन्वंतर की समाप्ति के साथ समाप्त हो जाऊँगा। यही इच्छा थी कि मैं पुरुष और स्त्री के निर्माण का परिणाम देख लेता किंतु मुझे चिंता नहीं है। परिणाम कुछ भी हो, मेरी सृष्टि का इतिहास तो सुरक्षित रहेगा ही। [शिथिल स्वर में] कश्यप, अब मैं शेष हो रहा हूँ ! [और अंधकार हो जाता है]।

क०—पिताजी, कहाँ आप अंधकार का नाश करना चाहते थे और कहाँ आप स्वयं अंधकार में लीन होने जा रहे हैं !

प्र०—[शिथिल स्वर में] विश्वगुरु की इच्छा !

क०—मैं विश्वगुरु को इसकी सूचना दूँ ?

प्र०—वे जानते हैं कि मे समाप्त हो रहा हूँ ।

क०—मैं अपने सहयोगी अन्य छ. ऋषियों को सूचित करूँ कि वे आपका स्तवन करें । मैं स्वयं उनमें सम्मिलित होऊँगा ।

[नेपथ्य में भयानक कोलाहल होता है ।]

क०—यह क्या ?

प्र०—अंधकार का आगमन ! [कुछ प्रकाश और बुझ जाता है ।]

क०—ओह, मैं आपकी शांति के लिए स्तवन करने जाऊँ ।
प्रणाम, प्रभु !

[प्रजापति प्रणाम स्वीकार करते हैं । कश्यप का प्रस्थान ।]

प्र०—[विकृत स्वर में] अंधकार...अंधकार...विश्वगुरु, तुमने अपने पाप को जीवित रक्खा ! क्या महापुरुषों का पाप भी पुण्य हो जाता है ?

[नेपथ्य में फिर भयानक शब्द । विद्याधर और मेनका का जीव रूप में प्रवेश ।]

मे०—[कर्कश स्वर में] प्रजापति, तीस वर्षों में मैंने अनुभव किया कि तुम्हारे अस्तित्व की भावना मनुष्य की सब से बड़ी दुर्बलता है । तुम्हारा धर्म जीवन का विष, वही धर्म जीवन का सबसे बड़ा अंधकार है ।

वि०—[कर्कश स्वर में] प्रजापति, प्रेम हो नहीं सकता यदि वासना न हो । बिना शरीर की आसक्ति के प्रेम कंकालवत् ऋषियों की असफल वासना है । प्रेम में चुंबन है और चुंबन में प्रेम । तुम पतिव्रता के मन और शरीर दोनों को बाँधना चाहते हो ? अंधकार फैलाऊँगी, प्रजापति ।

प्र०—[शांति से] तुम दोनों संसार के संस्कारों से भरे हुए हो । पवित्र बनो ।

मे०—[ज़ोर से] मैं तुम्हारा नाश करूँगा । मैंने आत्महत्या की है ।
[वक्र-दृष्टि ।]

वि०—[ज़ोर से] मैं तुम्हारा नाश करूँगी । मैंने प्राण दंड पाया है ।
[क्रोधदृष्टि ।]

प्र०—[शांति से] मैं स्वयं समाप्त होने जा रहा हूँ, विद्याधर ! मैं स्वयं नष्ट हो रहा हूँ, मेनका ! (पुकार कर) माया !

[माया का प्रवेश ।]

मा०—आज्ञा प्रभु, मैं केवल बारह क्षणों तक ही आपकी आज्ञा-कारिणी हूँ ।

प्र०—[आदेश-स्वर किंतु क्षीण] इसी काल में मेनका और विद्याधर की आत्माओं को पवित्र करो और अपना प्रभाव इन पर से हटा लो ।

मा०—जो आज्ञा ।

[माया मेनका और विद्याधर की ओर देखती है । दोनों के श्याम आच्छादन गिर जाते हैं । उनके गिरते ही माया चली जाती है । विद्याधर और मेनका पूर्ववत् हो जाते हैं ।]

प्र०—विद्याधर !

वि०—[हाथ जोड़ कर] प्रभु प्रजापति को प्रणाम ।

प्र०—मेनका !

मे०—[हाथ जोड़ कर] प्रभु प्रजापति का अभिनंदन ।

प्र०—विद्याधर और मेनका ! अब तुम दोनों एक दूसरे से प्रेम कर सकते हो ।

मे० और वि०—[परस्पर देख कर] प्रभु की कृपा ।

प्र०—[क्रमशः क्षीण होते हुए स्वर में] विद्याधर, मेरी मृष्टि अपूर्ण रही ! मेनका, मैंने पुरुष और स्त्री के निर्माण की कल्पना व्यर्थ की । विश्वगुरु की कथा की भाँति मेरी भी यह पाप-कथा अमर रहेगी !

विद्याधर ! [लडखडाते है ।] मेनका ! [सँभलते हुए] मेरे विनाश में
आज पुरुष और स्त्री की सृष्टि अमर हो !

[प्रजापति गिरने हुए सिंहासन का सहारा लेते हैं । क्षीण प्रकाश
रह जाता है ।]

वि०—ओह, प्रजापति ! [दौड़ कर प्रजापति को सँभालता है ।]

मे०—[स्तम्भित स्वर में] अं...ध...का...र...!

[परदा गिरता है ।]



